
SRI PRATAP COLLEGE

हिन्दी पद्य-पीयूष

EXPURGATED EDITION

हिन्दी के आधुनिक महाकवियों की चुनी हुई
उत्तमोत्तम कविताओं का अपूर्व संग्रह

संग्रहकर्ता
श्रीयुत पं० चारुदेव शास्त्री एम० ए०, एम० ओ० एल०
प्रोफ़ेसर, डी० ए० वी० कालेज, लाहौर

प्रकाशक
मेहरचन्द्र लक्ष्मणदास
संस्कृत-हिंदी पुस्तक-विक्रेता
'जैन स्ट्रीट' सैदमिट्ठा बाज़ार,
लाहौर

पञ्चमावृत्ति] नवम्बर १९४५ [मूल्य १॥=)।

अनुक्रमणिका

पँखुरियाँ

शब्दार्थ

१८३७।

प्राक्कथन

कवि कौन है ?

उपर्युक्त प्रश्न का उत्तर स्वर्गीय बाबू प्रेमचन्द जी के शब्दों में एक अनूठे और मार्मिक ढंग से दिया जा सकता है—'मानव जीवन एक उलझी हुई गुत्थी है, जिसको सुलझाने के लिए कवि का आविर्भाव होता है'। अथवा यों समझिए—जब सृष्टि के साथ मनुष्य के रागात्मक सम्बन्ध के विच्छेद की शंका उत्पन्न होती है, ठीक ऐसे ही अवसर पर कवि अपनी कृति से उसे सँभालता है। बस, यही एक पहेली है जिसे हम साहित्य का आधार कहते हैं।

मानव-हृदय में एक प्रकार की इच्छा पैदा होती है कि—मैं अपने भाव दूसरों पर प्रकट करूँ। यही एक मनोवृत्ति है, जिसको हम दूसरे शब्दों में 'आत्माभिव्यञ्जना की वासना' इस नाम से कहते हैं। इसके अतिरिक्त एक और भी मनोवृत्ति हृदय में काम करती दीख पड़ती है, जो 'दूसरों के कृत्यों में अनुराग' इस नाम से कही जा सकती है। इन्हीं (उपर्युक्त) भावों वा मनोवृत्तियों से प्रेरित होकर मनुष्य काव्य की रचना करने बैठता है। काव्य उपर्युक्त भावों से प्रेरित होकर की हुई जीवन की व्याख्या है। अथवा यों कहिए—जब कोई भाव हमारे रागों और अनुभवों की वस्तु बनकर किसी विशेष प्रकार की भाषा से बँधकर सामने आता है और पाठकों की अनुभूति की कसौटी पर पूरा उतरता है, तभी हम उसको 'कमनीय कविता' कहकर पुकार उठते हैं। अतः सिद्धान्त निकला कि भाव-प्रेरित अनुभूति ही काव्य है।

जब कवि अपनी व्यक्तिगत वृत्तियों को सामान्य मनोवृत्तियों में मिलाकर अपनी कल्पना द्वारा जगत् के रूपात्मक चित्रों—व्यक्ति चित्रों—का निदर्शन कराता है, तभी वह काव्यांगन में विचरने वाला प्राणी समझा जाता है। कवि का महत्त्व उसके प्रतिपाद्य विषय, विचार तथा धार्मिक भाव और उसके प्रभाव पर अवलम्बित है। अतः कवि का कर्तव्य है कि वह जो चित्र चित्रित करने चला है, वह ऐसा होना चाहिए कि पाठक अपनी रागात्मक अनुभूति का उसमें अनुभव करने लगे। यदि कवि अपनी कृति में पाठक के लिए कुछ कहना चाहता है, तो वह अपने काव्य और जीवन का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध स्थापित करे।

कवि अपनी कृति में जगत् के अव्यवस्थित पदार्थों को अपनी कविता द्वारा ज्योति प्रदान करता है। अतः उसके लिए प्रकृतिनिरीक्षण भी आवश्यक है। जो कवि प्रकृति के विरुद्ध लिखता है, वह हास्यास्पद समझा जाता है और उसका वह वर्णन सर्वथा अनुपयुक्त सिद्ध होता है। कारण, 'प्रकृति के छिपे और खुले भेदों को सर्वसाधारण के सामने मनोहर रूप में प्रकट करना कवि का काम है' (—पद्मसिंह)। कवि प्रकृति का पुरोहित है। जिस प्रकार पुरोहित के लिए

यजमान के कुल-क्रमागत सब आचारों का विज्ञ होना आवश्यक है, उसी प्रकार कवि को भी प्रकृति का सम्यक् निरीक्षण आवश्यक है।

कवीन्द्र रवीन्द्र के शब्दों में हम कह सकते हैं—'कुछ इस प्रकार के जड़ प्रकृति के मनुष्य हैं, जिनके हृदयों में संसार के अत्यन्त अल्प विषयों के प्रति उत्सुकता होती है। वे संसार में जन्म लेकर भी अधिकांश जगत् से वञ्चित रहते हैं। उनके हृदय की खिड़कियाँ संख्या में कम और चौड़ाई में संकीर्ण होती हैं। इसी लिए संसार के बीच में वे प्रवासी से हैं।'

'कुछ इस प्रकार के भाग्यवान् मनुष्य भी हैं जिनका विस्मय, प्रेम और कल्पना सर्वत्र सजग रहते हैं। प्रकृति के कोने कोने से उनको निमन्त्रण मिलता है। संसार के नाना आन्दोलन उनकी चित्रवीणा को नाना रागिनियों में स्पंदित कर देते हैं।'

ऐसे ही भाग्यशाली मनुष्य कवि होते हैं। जो कवि जितना ही अधिक बाह्य जगत् को अपनी मनोवृत्तियों से नाना रंगों में रँगकर सरस, सुन्दर तथा साकार बनाकर मानव-हृदय को स्पर्श करने वाला बना देगा, उतना ही वह उच्च कवि है। कवि अपने हृदय में संसार के सुख दुःख इच्छा द्वेषादि सभी भावों का अनुभव करता है, उन पर उसका अधिकार होता है। वह अपनी प्रतिभा के बल से अपने उन अनुभवों को 'आत्माभिव्यञ्जना की वासना' वृत्ति के अधीन होकर विश्व के हृदय पर अंकित करता है। साथ ही यह कह देना भी असंगत न होगा कि कवि अपने समय का प्रतिनिधि, भूत का फल और भविष्यत् का फूलरूप होता है। दूसरे रूप में कवि भूत और वर्तमान का प्रतिबिम्ब और आगामी सन्तति का पथ-प्रदर्शक होता है। वह 'देहरीदीपक न्याय' से जहाँ बैठा है, उस स्थान से पूर्व को प्रकाशित करता हुआ, आगे बढ़ने का आदेश देता है। वह जनता का प्रतिनिधि है, नेता है, और एक अद्भुत सृष्टि का निर्माता होने से वह ब्रह्मा भी है। उसकी सृष्टि में सुख ही सुख है, दुःख का नाम नहीं। उसकी सृष्टि में केवल सुन्दरता है—उसका सौन्दर्य साधारण जगत् का सौन्दर्य नहीं।

उपर्युक्त विचार से हमें यह ज्ञात हो गया कि कवि कौन है, और उसका कर्तव्य-कर्म क्या है। अब देखना यह है कि कविता क्या है, और उसका आन्तरिक स्वरूप कैसा है तथा बाह्य रूप क्या है, जिसने इस मानव-समाज में इतनी हलचल मचा रक्खी है।

इससे पहले कि हम कविता पर कुछ विचार करें, यह आवश्यक जान पड़ता है कि पहले उसके तत्त्वों पर कुछ प्रकाश डाला जाय। अतः यदि उनका सविस्तर विवेचन न करके केवल इतना ही कह दिया जाय कि 'कल्पना और

मनोवेग का नाम कविता है' तो उपयुक्त होगा। हमको इस उपर्युक्त कथन से ज्ञात होता है कि कल्पना और मनोवेग ही कविता की अन्तरात्मा हैं। कुछ लोग कविता को कला मानते हैं, पर यह उनका भ्रम है। वह वास्तव में एक रसमयी स्फूर्ति है। कवि जब रस दशा को प्राप्त होता है, तब कविता स्वयमेव प्रवाहित हो उठती है। उसमें इतना प्रयास नहीं। कविता के प्रति कवि के हृदय में जो बेचैनी, तड़प होती है, उसी को रस की दशा कहा जा सकता है। यह ठीक है कि अभ्यास और परिश्रम से काव्य में सौन्दर्य आता है, और जहाँ अभ्यास और प्रयास का काम हो रहा है, वहाँ कला को न मानना भी अवाञ्छनीय है। तथापि जो कवि हैं या जिन्हें कविता का कुछ भी अनुभव है, वे इस बात को अच्छी तरह जानते हैं कि कविता किसी भी प्रकार के बन्धन से सर्वथा मुक्त है। इतना ही नहीं कि वह शास्त्रमर्यादा का ही उल्लंघन करती है, किन्तु हमारा यह अनुभव है कि किसी विषय पर हठात् लिखने बैठें, तो आप कुछ न लिख सकेंगे बल्कि उसके विपरीत कुछ का कुछ लिख जायँगे। निम्नलिखित उदाहरण से आपको यह भली भाँति स्पष्ट हो जायगा—

अंकित करने चली तूलिका ज्यों ही विस्तृत नील गगन।
किसी नयन का लघु तारा खिंच गया चित्र-पट पर तत्क्षण॥

अब आया कविता का स्वरूप। इसके विषय में लोगों के विभिन्न मत हैं। कोई कहता है 'कविता पद्यमय निबन्ध है'। दूसरा बताता है, 'कविता संगीतमय विचार है'। तीसरा कहता है 'रसात्मक वाक्य ही काव्य है'। चौथे का मत है कि 'रमणीयार्थ का प्रतिपादक शब्द ही काव्य है'। पाश्चात्यों के विचार कुछ और हैं। इस प्रकार कविता के विषय में लोग अपने अपने विचार प्रकट करते हैं किन्तु उपर्युक्त सब लक्षणों को हटाकर यदि यह कह दिया जाय कि 'कविता वह साधन है, जिसके द्वारा मनुष्य का रागात्मक सम्बन्ध तथा उसकी रक्षा होती है' तो अधिक संगत होगा।

कुछ लोग कविता को 'कल्पना ही कविता है' कहकर सत्य से दूर करना चाहते हैं। किन्तु यह केवल उनका भ्रममात्र है। क्योंकि पारमार्थिक दृष्टि से सत्य का एक ही रूप है पर व्यवहार की दृष्टि से अपने काम चलाने के लिये उस पर अनेक रूप आरोपित कर दिये गये हैं। बस, इसी सिद्धान्त को कविता के विषय में जान लेना चाहिये। हाँ, वैज्ञानिक-सत्य और कवि-सत्य में कुछ भेद अवश्य होता है। वैज्ञानिक प्रकृति को, जिस रूप में वह है उसी रूप में देखता है, किन्तु कवि प्रकृति प्रभाव अपने हृदय पर देखता है। वाटिका में फूल खिला। दोनों ने उसे देखा, वैज्ञानिक ने भी और कवि ने भी। वैज्ञानिक ने विज्ञान की दृष्टि से देखा। उसने बतलाया—यह फूल है, कैसे पैदा हुआ, क्या है,

इससे क्या लाभ है, क्या हानि है; उसने फूल का वास्तविक रूप जनता के सामने रख दिया। किन्तु कवि ने उसको देखा, उस के हृदय पर एक विचित्र प्रभाव पड़ा। उसने उस वाटिका में फूल के आने से प्रसन्नता की एक नई लहर दौड़ती हुई देखी। डाली डाली, पत्ती पत्ती को मारे प्रसन्नता के नाचते हुए देखा। मद से इठलाती हुई समीर को उसने वहाँ अठखेलियाँ करते पाया। वह तड़प उठा और सहसा मुख से निकल ही तो गया—

खिला है नया फूल उपवन में।
सुखी हो रहे हैं सब तरुवर, बेलें हँसती मन में ॥१॥
प्रात समीर लगी, सुख पाया, पहली दशा भुलाई।
जिधर निहारा, उधर प्रेम की थाली परसी पाई ॥२॥
रूप अनूठा लेकर आया, मृदु सुगन्धि फैलाई।
सब के हृदय-देश में अपनी प्रभुता-ध्वजा उड़ाई ॥३॥
जीत लिया है तू ने सब को, ऐसी लहर चलाई।
रोकर हँसकर—सभी तरह से अपनी बात बनाई ॥४॥

इस विषय पर हम अधिक न कहकर इतना ही कह देना पर्याप्त समझते हैं कि वैज्ञानिक और कवि इन दोनों का क्षेत्र पृथक् पृथक् है। इसी कारण इनकी सत्यता में अन्तर है।

कवि अपने काव्य में उन बातों का भी उपयोग करता है, जिनको वैज्ञानिक अपने विज्ञान-क्षेत्र में आश्रय दे चुका है, परन्तु उसी रूप में (अर्थात् वह अपने हृदय के प्रभावानुसार ही इसे अपनाता है)। सारांश यह है कि कवि-कृति में सत्यता का अस्तित्व होता है, जिसका अभिप्राय हम निष्कपटता से ले सकते हैं। यहाँ कवि के लिये इतनी बात और ध्यान देने योग्य है कि कवि किसी सत्यता का वर्णन करते हुए, वैज्ञानिक फँदे में पड़ कर अपने हृदयस्थ विचारों को न भुला दे।

यह तो हुआ कविता का आभ्यान्तरिक रूप। अब हमको उसके बाह्य रूप पर विचार करना है। कविता का बाह्य रूप छन्द, अलंकार और भाषा से सम्बन्ध रखता है। कुछ लोगों का सिद्धान्त है कि 'कविता के भावमय होने पर भी उसका बाह्य रूप वृत्तादि से सुसज्जित होना आवश्यक है। अन्यथा वह कविता कीचड़ में दबे हुए रत्न की भाँति उपेक्षणीय है।' कुछ का मत है कि 'छन्दादि कविता का परिधानमात्र है।' किन्तु यह कहना कुछ असंगत-सा प्रतीत होता है, क्योंकि परिधान शरीर की रक्षा का एक साधनमात्र है, वह उससे पृथक् भी हो सकता है किन्तु छन्दादि कविता से पृथक् नहीं किये जा सकते। छन्द आदि को कविता से पृथक् करना उसकी एक बड़ी शक्ति को नष्ट

करना है। आजकल छायावादी कवि छन्दों के बन्धन को सर्वथा छोड़ रहे हैं। उनका कथन है कि तुक और मात्राओं के बन्धन में सुकुमार हार्दिक भावों का प्रदर्शन भली भाँति नहीं हो सकता। इसी लिए इन छायावादी कवियों के पद्य भी गद्य की तरह चलते हैं, और बिना किसी तुक के होते हैं। इसके साथ-साथ उनमें अक्षरों की भी कोई समानता नहीं होती। यदि एक पंक्ति में पाँच अक्षर हैं तो दूसरी में पचीस। हम यह नहीं कहते हैं कि कविता का सौन्दर्य भाव में नहीं, हम तो मानते हैं कि कविता का सौन्दर्य भाव में है तथापि सौन्दर्य लाने के लिये कवि अपनी प्रिया को अलंकारादि से भूषित कर साहित्य-प्राङ्गण में भेजता है। हाँ, यह कह सकते हैं कि कविता गद्य, पद्य दोनों में हो सकती है, किन्तु वृत्त भाव और सौन्दर्य में ओज को और जोड़ देता है। कविता का पूर्ण सौन्दर्य उसके लय के साथ पढ़ने में ही प्रकट होता है।

पद्य-साहित्य और उसकी गतियाँ

हम ऊपर कह चुके हैं कि मानव-जीवन में एक वृत्ति काम करती हुई दिखाई देती है, जिसके आश्रित सामाजिक उन्नति, अवनति, पारस्परिक सहानुभूति और हमारा संगठन है। आबाल वृद्ध सभी उसी एक वृत्ति के अधीन काम कर रहे हैं। हर समय हर एक व्यक्ति के हृदय में यह भावना रहती है कि मैं अपने भावों को दूसरों पर प्रकट करूँ। संसार का कोई भी व्यक्ति इस भावना को नहीं दबा सकता। बस, इसी बलवती भावना से प्रेरित होकर मनुष्य समाज को संगठित करता है, एक दूसरे के दुःख में दुःख और सुख में सुख का अनुभव करता है। इस वृत्ति का नाम 'आत्माभिव्यञ्जना की वासना' है।

जब मनुष्य किसी के दुःख या सुख में सहानुभूति प्रकट करता है तब उसके चित्त में एक और भावना होती है। वह चाहता है कि मैं अपनी बात को दूसरों पर ऐसे ढंग से व्यक्त करूँ कि उसका प्रभाव सुनने वालों पर अच्छा पड़े, जिससे उनमें मेरा मान हो। इस भावना को हम 'आत्मप्रियता' कहते हैं। इसी से प्रेरित होकर मनुष्य अपनी भाषा में विविध अलंकारों का समावेश करता है। इसी प्रकार वह दूसरों की भाषा या भावों में भी 'अनुराग' रखता है।

इस प्रकार उपर्युक्त अनेक भावों और मनोवृत्तियों से ही पद्य-साहित्य का विकास होता है। पद्य में यति और गति के नियमों का पालन करना पड़ता है। इसलिए उसमें गद्य की अपेक्षा रोचकता और आकर्षण अधिक मात्रा में होता है। मनुष्य एक सौन्दर्यप्रिय प्राणी है। वह हर एक वस्तु में सुन्दरता चाहता है। जिस वस्तु में वह अपनी रुचि के अनुकूल सुन्दरता पाता है, उसी की ओर झुकाव हो जाता है।

विश्व-साहित्य पर जब हम दृष्टि डालते हैं, तब सब से पहले हमारी दृष्टि

पद्यात्मक साहित्य पर पड़ती है । संसार में किसी देश या किसी जाति का साहित्य ऐसा न मिलेगा, जो गद्य से आरम्भ हुआ हो । इसका कारण पाठक स्वयं जान सकते हैं । यही बात हम अपने हिन्दी-साहित्य में भी पाते हैं। हिन्दी-साहित्य में सब से प्राचीन ग्रन्थ अलंकारविषयक एक पुष्य नामक बन्दी-जन द्वारा विक्रम संवत् ७५० का लिखा हुआ मिला है । परन्तु कई कारणों से वह मान्य नहीं । इसके बाद मुञ्ज—भोज के समय से हमारे साहित्य की सृष्टि दिखाई पड़ती है । तब से लेकर आज तक के इस साहित्य को साहित्यकों ने चार कालों में विभक्त किया है ।

साहित्य पर समाज, देश, काल और परिस्थिति का पूरा पूरा प्रभाव पड़ता है । वही बात हमारे हिन्दी-साहित्य पर लागू होती है । जिस समय हमारे हिन्दी-साहित्य का आरम्भ हुआ, वह काल लड़ाई और झगड़ों का था। सम्राट् हर्षवर्धन के मरते ही राज्य के खण्ड खण्ड हो गये । इस समय प्रायः क्षत्रियों का समय पारस्परिक लड़ाई-झगड़ों में व्यतीत होता था । इसका हमारे साहित्य पर गहरा प्रभाव पड़ा । उस काल का जितना भी साहित्य उपलब्ध हुआ है, प्रायः वीररसात्मक है । अतः इस काल का नाम 'वीरगाथा काल' रक्खा गया ।

इसके बाद मुसलमानों का भारतवर्ष पर आधिपत्य हुआ । क्षत्रियों की शक्ति क्षीण हो गई दिनों-दिन अत्याचार बढ़ते गये । जनता तंग आ गई । वह आश्रयहीन हो गई । निराश्रित मनुष्य की दो ही गति हैं—एक परमात्मा, दूसरा विलास । हम पहले कह चुके हैं कि कवि समाज का नेता और काल का प्रतिनिधि होता है । पतन के किनारे पर खड़ी हुई हिन्दू जाति को, जो केवल एक धक्के की राह देख रही थी, हमारे कवि-समाज ने ढाढस दिया । समय के अनुकूल उसने भक्ति-रस का सञ्चार किया, राम और रहीम की एकता पर बल दिया । उसका प्रभाव यह हुआ कि मुसलमान और हिन्दुओं में से यह वैमनस्य ही नष्ट न हुआ, अपितु (रसखान आदि) अनेक मुसलमान भी हिन्दू धर्म के गीत गाने लगे । इस समय भक्ति का प्राबल्य रहा, इसी लिए इस काल का नाम 'भक्ति काल' पड़ा ।

लक्ष्य ग्रन्थों के बाद लक्षण ग्रन्थों की सृष्टि होती है । आज तक कितने ही ग्रन्थ हिन्दी भाषा में लिखे जा चुके थे किन्तु उनकी कोई सीमा अभी तक निश्चित न हुई थी । उपर्युक्त नियम के अनुसार अब कवियों का ध्यान इस ओर गया । सब से पूर्व आचार्य केशव ने इस ओर अपनी लेखनी उठाई । तत्पश्चात् अनेक कवियों ने तद्विषयक ग्रन्थों का निर्माण किया । प्रायः कुछ समय तक यही धारा निरन्तर रूप से प्रवाहित होती रही । अतः इस काल का नाम 'रीति काल' पड़ा ।

आधुनिक युग का आरम्भ विक्रम की उन्नीसवीं शताब्दी से होता है। इस काल के आरम्भ में हम गद्य के चार प्रमुख लेखकों को पाते हैं—लल्लूलाल, सदलमिश्र, मुंशी सदासुखलाल और इंशाअल्लाह खाँ। परन्तु इस काल का वास्तविक आरम्भ भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र से होता है। इन महाशय ने साहित्य में एक क्रान्तिकारी परिवर्तन किया, उसमें एक नया जीवन फूँक दिया। यह इन्हीं की कृपा का फल है कि जो कवि अभी तक केवल नख शिख के ही वर्णन में अपना सौभाग्य समझते थे, उन्होंने अपनी उस प्रणाली का परित्याग कर एक श्रेयस्कर मार्ग को अपनाया। यहाँ हम इस बात की विवेचना न करेंगे कि उन्होंने कौन-सी भाषा में कविता की और कौन-सी में नहीं। जैसा कि हम पहले कह चुके हैं कि कवि काल के प्रतिनिधि होते हैं। उन्हीं के हाथों देश और जाति का उत्थान-पतन निश्चित है। वह समाज को जिस ओर चाहें, घुमा सकते हैं। हरिश्चन्द्र जी का जन्म जिस समय हुआ, उस समय चारों ओर अन्धकार ही अन्धकार छाया हुआ था। एक ओर सामाजिक कुरीतियाँ, दूसरी ओर धार्मिक ग्लानि। एक ओर दैशिक विपत्ति, तो दूसरी ओर साहित्य पतन! इन सब बातों का भारतेन्दु पर गहरा प्रभाव पड़ा। साहित्य देश और जाति का खाद्य है। जैसा जिस जाति का साहित्य होगा, वैसा ही उसकी बुद्धि का विकास होगा। भारतेन्दु ने यह नव सन्देश कवियों को दिया।

आपको उनकी हर एक कविता में एक भावना मिलेगी, जो हर एक सहृदय व्यक्ति के हृदय को स्पर्श करती है, वह है उनकी भारतीयता। उनमें अपने धर्म के प्रति श्रद्धा, देश के प्रति अटूट प्रेम कूट-कूटकर भरा था। वह अपने देश की दुर्दशा को न देख सके थे। सहसा उनके मुख से निकल पड़ा—

'हा हा! भारत-दुर्दशा न देखी जाई।'

उनके इस हाहाकार का कोई असर न हुआ हो, यह बात नहीं। इस हाहाकार ने एक हलचल पैदा कर दी, एक नया युग ही सामने लाकर उपस्थित कर दिया, जिसके दर्शन आज हम अपने साहित्य में कर रहे हैं।

आपकी शैली और गति-विधि का अनुकरण करने वालों में से प्रतापनारायण मिश्र, बालमुकुन्द गुप्त, बालकृष्ण भट्ट, बदरीनारायण चौधरी आदि कई सत्कवि हुए।

काल की प्रगति का प्रभाव कवि पर पड़ता है, यह बात हमें तात्कालिक साहित्य से ज्ञात होती है। मध्य युग में भावों का प्राबल्य रहा परन्तु आज उसमें एक मौलिक परिवर्तन दीख पड़ता है। आजकल की कविताओं के प्रमुख विषय प्रायः देश, जाति, समाज-सुधार और प्रकृतिवर्णन हैं। इस परिवर्तन का मुख्य कारण हम ऊपर बतला चुके हैं।

रहस्यवाद और छायावाद

जहाँ हम उपर्युक्त बातों को वर्तमान कविताओं में देखते हैं वहाँ एक ओर नई लहर हमें दीख पड़ती है, जिस पर अब कुछ काल से अधिक बल दिया जा रहा है। वास्तव में रहस्यवाद, और छायावाद क्या है ? यह एक प्रश्न ऐसा है, जिसके उत्तर तथा समझने के लिए विशेष परिश्रम तथा प्रतिभा की आवश्यकता है। हम अपने पाठकों को केवल सूक्ष्म रूप में एक छोटा सा गुर बता देते हैं—

रहस्यवाद—

रहस्यवाद आत्मा की उस अन्तर्हित प्रवृत्ति का नाम है, जिसमें आत्मा और परमात्मा का एकीकरण होता है अर्थात् आत्मा सांसारिक छलप्रपञ्च को छोड़कर परमात्मा से मेल करता है और उसमें ऐसा घुल-मिल जाता है कि वह अपने को तत्स्वरूप ही समझता है। उसमें आत्मा और परमात्मा को पृथक् करने वाली माया है। माया का परदा फटा कि दोनों एक।

छायावाद—

छायावाद में पुरुष असीम परमात्मा को ससीम वस्तु में सीमित कर, उसकी आराधना करता है। उसे संसार की पृथक् २ वस्तु में उसका पृथक् २ सौन्दर्य दिखाई देता है। वह उसमें ही अपने प्रियतम का आह्वान करता है। यही इन दोनों में अन्तर है।

प्रस्तुत संग्रह में हमने एक विशेष बात का ध्यान रक्खा है—जैसा कि हम पहले कह चुके हैं—कि भारतेन्दु की कविता हमारे लिए एक नई भावना लेकर आई। वह भावना क्या थी, यह हम ऊपर बता चुके हैं। हमारे देश, हमारी जाति को इस समय उसी भावना की आवश्यकता है। अतः तद्विषयक कविताओं को यहाँ स्थान दिया गया है। इसके साथ ही हमने कुछ ऐसी भी कविताओं को इसमें स्थान दिया, जिससे हमारे साहित्य की गति-विधियों और परिवर्तनों का परिचय भी हमारे पाठकों को हो जाय।

यदि किसी भी अंश में हमारा संग्रह पाठकों की सेवा कर सका तो हम अपने को धन्य समझेंगे।

मुझे प्रस्तुत संग्रह में ठा० बलवन्तसिंह जी शास्त्री हिन्दी-प्रभाकर से जो सहयोग मिला है, उसके लिए मैं उनका धन्यवाद किये बिना नहीं रह सकता।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

भारतेन्दु का जन्म बंगाल के इतिहास-प्रसिद्ध सेठ अमीचन्द के वंश में हुआ था। सेठजी के दो पुत्र थे, जो काशी में आकर बसे थे। इनमें से एक फतहचन्द थे। इनके पौत्र का नाम हरचन्द था, जो अपनी धनराशि और उसके सद्व्यय के लिए विख्यात थे। इनके पुत्र का नाम गोपालचन्द्र था। यह बड़े अच्छे कवि थे। इन्होंने हिन्दी में चालीस ग्रन्थ बनाये। इन्हीं बाबू गोपाल चन्द्र के पुत्र बाबू हरिश्चन्द्र हुए।

इनका जन्म भाद्रपद शुक्ला सप्तमी सं० १९०७ में हुआ था। अभी यह नौ वर्ष के थे कि इनके पिता का स्वर्गवास हो गया। सारे घर का भार इन्हीं के ऊपर आ पड़ा। पढ़ने का काम ज्यों-त्यों करके तीन चार वर्ष तक चला, परन्तु जब ये अपनी माताजी के साथ सं० १९२१ में जगदीश-यात्रा को गये, तो पढ़ना बिलकुल छूट गया। यात्रा से लौटने पर इनकी रुचि कविता और देशभक्ति की ओर फिरी। इन्होंने एक छोटा-सा स्कूल अपने घर ही में खोला, जो बाद में 'हरिश्चन्द्र हाई स्कूल' के नाम से विख्यात हुआ। इन्होंने 'कविवचनसुधा' नामक पाक्षिक पत्र भी निकाला।

इनकी कविता हिन्दी में एक नई प्रगति-पताका को लेकर आई थी। इनकी कविता में उत्कट देश-प्रेम और प्रगाढ़ समाज-हितैषिता के भाव निहित हैं।

संवत् १९४२ में आपने इस नश्वर संसार को छोड़ दिया। ३५ वर्ष की इस छोटी आयु में आपने १७५ ग्रन्थ लिखे।

भारत-दुर्दशा

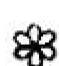
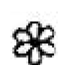
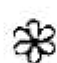
रोवहु सब मिलिकै आवहु भारत भाई।
हा हा ! भारत-दुर्दशा न देखी जाई॥
सब के पहिले जेहि ईश्वर धन बल दीनो।
सब के पहिले जेहि सभ्य विधाता कीनो॥
सब के पहिले जो रूप रंग रस भीनो।
सब के पहिले विद्याफल जिन गहि लीनो॥
अब सब के पीछे सोई परत लिखाई।
हा हा ! भारत-दुर्दशा न देखी जाई॥१॥

जहँ भये शाक्य हरिचन्द रु नहुष ययाती।
जहँ राम युधिष्ठिर वासुदेव सर्याती॥
जहँ भीम करन अर्जुन की छटा दिखाती।
तहँ रही मूढ़ता कलह अविद्या राती॥
अब जहँ देखहु तहँ दुःखहि दुःख दिखाई।
हा हा! भारत-दुर्दशा न देखी जाई॥२॥
लरि वैदिक जैन डुबाई पुस्तक सारी।
करि कलह बुलाई जवनसैन पुनि भारी॥
तिन नासी बुधि बल विद्या बहु बारी।
छाई अब आलस कुमति कलह अँधियारी॥
भये अन्ध पंगु सब दीन हीन बिलखाई।
हा हा! भारत-दुर्दशा न देखी जाई॥३॥
अँगरेज राज सुख साज सजे सब भारी।
पै धन बिदेस चलि जात यहै अति ख्वारी॥
ताहू पै महँगी काल रोग विस्तारी।
दिन दिन दूने दुख ईस देत हा हा री॥
सब के ऊपर टिक्कस की आफत आई।
हा हा! भारत-दुर्दशा न देखी जाई॥४॥

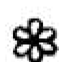
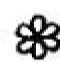
विचक्षणा।—गोरे तन कुमकुम सुरँग, प्रथम न्हवाई बाल।
राजा।—सो तो जनु कंचन तप्यो, होत पीत सों लाल॥
विच०।—इन्द्रनीलमणि पैंजनी, ताहि दई पहिराय।
राजा।—कमल कली जुग घेरिकै, अलि मनु बैठे आय॥
विच०।—सजी हरित सारी सरिस, जुगल जंघ कहँ घेरि।
राजा।—सो मनु कदली पात निज, खंभन लपट्यो फेरि॥
विच०।—पहिराई मनि किंकिनी, छीन सुकटि तट लाय।
राजा।—सो सिंगार मंडप बँधी, बंदनमाल सुहाय॥
विच०।—गोरे कर कारी चुरी, चुनि पहिराई हाथ।
राजा।—सो साँपिन लपटी मनहुँ, चंदन साखा साथ॥
विच०।—बड़े बड़े मुक्तान सों, गल अति सोभा देत।

राजा ।—तारागन आये मनौं, निज पति ससि के हेत ॥
विच० ।—करनफूल जुग करन में, अति ही करत प्रकास ।
राजा ।—मनु ससि लै द्वै कुमुदिनी, बैठ्यौ उतरि अकास ॥
विच० ।—बाला के जुग कान में, बाला सोभा देत ।
राजा ।—स्रवत अमृत ससि दुहुँ तरफ, पियत मकर करि हेत ॥
विच० ।—जिश्र रञ्जन खंजन दृगनि, अञ्जन दियो बनाय ।
राजा ।—मनहुँ सान फेर्यो मदन, जुगुल बान निज लाय ॥
विच० ।—चोटी गुथि पाटी सरस, करिकै बाँधे केस ।
राजा ।—मनहुँ सिंगार एकत्र ह्वै, बँध्यो वार के वेस ॥
विच० ।—बहुरि उढ़ाई ओढ़नी, अतर सुबास बसाय ।
राजा ।—फूललता लपटी किरिन, रवि ससि की मनु आय ॥
विच० ।—एहि विधि सो भूषित करी, भूषण वसन बनाय ।
राजा ।—काम बाग झालरि लई, मनु वसंत ऋतु पाय ॥

('कर्पूरमंजरी' से)

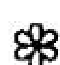
  

जग में पतिव्रत सम नहिं आन ।
नारि हेतु कोउ धर्म न दूजो जग में यासु समान ॥
अनुसूया सीता सावित्री इनके चरित प्रमान ।
पतिदेवता तीय जग धन धन गावत वेद पुरान ॥
धन्य देस कुल जहँ निवसत हैं नारी सती सुजान ।
धन्य समय जब जन्म लेत ये धन्य ब्याह असथान ॥
सब समर्थ पतिवरता नारी इन सम और न आन ।
याही ते स्वर्गहु में इनको करत सबै गुन गान ॥

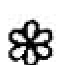
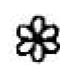
  

भई सखी ! ये अँखियाँ बिगरैल ।
बिगरि परी, मानत नहिं देखे बिना साँवरो छैल ॥
भई पतवार धरत पग डगमग नहिं सूझत कुल गैल ।
तजिकै लाज साज गुरुजन को हरि की भई रखैल ॥

निज चबाव सुनि औरहु हरखत करत न कछु मन मैल।
'हरीचन्द' सब शंक छाड़िकै करहिं रूप की सैल॥

भरोसो रीझन ही लखि भारी।
हमहूँ को विश्वास होत है मोहन पतित उधारी॥
जो ऐसो सुभाव नहिं हो तो क्यों अहीर कुल भायो।
तजिकै कौस्तुभ से मनि गल क्यों गुँजाहार धरायो॥
कीट मुकुट सिर छोड़ि पखौआ मोरन को क्यों धार्यो।
फेंट कसी टेंटिन पै मेवन को क्यों स्वाद बिसार्यो॥
ऐसी उलटी रीझ देखिकै उपजत है जिय आस।
जग निन्दत हरिचन्दहुँ को अपनावहिंगे करि दास॥

जहाँ बिसेसर सोमनाथ माधव के मन्दर।
तहँ महजिद बन गई होत अब अल्ला अकबर॥
जहँ झूसी उज्जैन अवध कन्नौज रहे बर।
तहँ अब रोअत सिवा चहूँ दिशि लखियत खँडहर।
जहँ धन विद्या बरसत रही सदा अबै वाही ठहर।
बरसत सब ही विधि बेबसी अब तो चेतौ वीरवर।
कहँ गये विक्रम भोज राम बलि कर्ण युधिष्ठिर।
चन्द्रगुप्त चाणक्य कहाँ नासे करकै थिर।
कहँ छत्री सब मरे विनसि सब गये कितै गिर।
कहाँ राज को तौन साज जेहि जानत हे चिर।
कहँ दुर्ग सैन धन बल गयो, धूरहि धूर दिखात जग।
उठि अजौं न मेरे वत्सगन, रच्छहिं अपुनो आर्य मग॥

गंगा-वर्णन

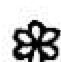
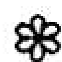
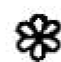
नव उज्जल जलधार हार हीरक सी सोहति।
बिच बिच छहरति बूँद मध्य मुक्ता मन पोहति॥

लोल लहर लहि पवन एक पै इक इमि आवत।
जिमि नर-गन मन विविध मनोरथ करत मिटावत॥
सुभग स्वर्ग सोपान सरिस सब के मन भावत।
दरसन मज्जन पान त्रिविध भय दूर मिटावत॥
श्रीहरि-पद-नख-चन्द्रकान्त-मन-द्रवित सुधारस।
ब्रह्म कमण्डल मण्डन भवखण्डन सुरसरबस॥
शिव सिर मालति माल भगीरथ नृपति पुण्य फल।
ऐरावत-गज-गिरि-पति-हिम-नग-कण्ठहार कल॥
सगर-सुवन सठ सहस परस जलमात्र उधारन।
अगनित धारा रूप धारि सागर संचारन॥
कासी कहँ प्रिय जानि ललकि भेंट्यो जग धाई।
सपने हू नहिं तजी रही अंकम लपटाई॥
कहूँ बँधे नव-घाट उच्च गिरिवर सम सोहत।
कहुँ छतरी कहुँ मढ़ी बढ़ी मन मोहत जोहत॥
धवल धाम चहुँ ओर फरहरत धुजा पताका।
घहरत घंटा धुनि धमकत धौंसा करि साका॥
मधुरी नौबत बजत कहूँ नारी नर गावत।
वेद पढ़त कहुँ द्विज कहुँ जोगी ध्यान लगावत॥
कहुँ सुन्दरी नहात नीर कर जुगल उछारत।
जुग अम्बुज मिलि मुक्त गुच्छ मनु सुच्छ निकारत॥
धोवत सुन्दरि वदन करन अतिही छवि पावत।
वारिधि नाते ससि-कलंक मनु कमल मिटावत॥
सुन्दरि ससि मुख नीर मध्य इमि सुन्दर सोहत।
कमल बेलि लहलही नवल कुसुमन मन मोहत॥
दीठि जहीं जहँ जात रहत तितहीं ठहराई।
गङ्गा-छवि हरिचन्द कछू बरनी नहिं जाई॥

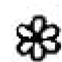
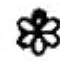
भावना

रहै क्यों एक म्यान असि दोय।
जिन नैनन में हरि रस छायो तेहि क्यों भावै कोय॥

जा तन मन मैं रमि रहै मोहन तहाँ ज्ञान क्यों आवै।
चाहो जितनी बात प्रबोधों ह्याँ को जो पतियावै॥
अमृत खाइ अब देखि इनारुन को मूरख जो भूलै।
हरीचन्द ब्रज तो कदलीबन काटौ तो फिरि फूलै॥

सम्हारहु अपने को गिरधारी।
मोर मुकुट सिर पाग पंच कसि राखहु अलक सँवारी॥
हिय हलकत बनमाल उठावहु मुरली धरहु उतारी।
चक्रादिकन सान दै राखो कंकन फँसन निवारी॥
नूपुर लेहु चढ़ाय किंकिनी खींचहु करहु तयारी।
पियरो पट परिकर कटि कसिकै बाँधौ हो बनवारी॥
हम नाहीं उनमें जिनको तुम सहजहि दीनों तारी।
बानो जुगओ नीके अब की हरीचन्द की बारी॥

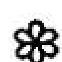
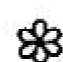
  

सब भाँति दैव प्रतिकूल होइ एहि नासा।
अब तजहु बीरबर! भारत की सब आसा॥
अब सुख सूरज को उदय नहीं इत ह्वैहै।
सो दिन फिर इत अब सपनेहूँ नहिं ऐहै॥
स्वाधीनपनो बल धीरज सबहि नसैहै।
मंगलमय भारत भुव मसान ह्वै जैहै॥
दुख ही दुख करिहै चारहुँ ओर प्रकासा।
अब तजहु बीरबर! भारत की सब आसा॥१॥
इत कलह विरोध सबन के हिय घर करिहै।
मूरखता को तम चारहु ओर पसरिहै॥
वीरता एकता ममता दूर सिधरिहै।
तजि उद्यम सब ही दासवृत्ति अनुसरिहै॥
ह्वै जैहैं चारहु बरन शूद्र बनि दासा।
अब तजहु बीरबर! भारत की सब आसा॥२॥

ह्वैहैं इत के सब भूत पिशाच उपासी।
कोऊ बनि जैहैं आपुहि स्वयंप्रकासी॥
नसि जैहैं सगरे सत्य धर्म अविनासी।
निज हरि सो ह्वैहैं विमुख भरत भुववासी॥
तजि सुपथ सबहि जन करिहैं कुपथ विलासा।
अब तजहु बीरवर! भारत की सब आसा॥३॥

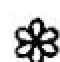
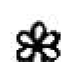
अपनी वस्तुन कहँ लखिहैं सबहिँ पराई।
निज चाल छोड़ि गहिहैं औरन की धाई॥
स्वारथ हित करिहैं हिन्दू संग लराई।
दुरजन के चरनहिं रहिहैं सीस चढ़ाई॥
तजि निज कुल करिहैं नीचन संग निवासा।
अब तजहु बीरबर! भारत की सब आसा॥४॥

रहे हमहुँ कबहुँ स्वाधीन आर्य बलधारी।
यह दैहैं जियसों सब ही बात बिसारी॥
हरि विमुख धरम बिनु धन बलहीन दुखारी।
आलसी मन्द तन छीन छुधित संसारी॥
सुख सों सहिहैं सिर नीचपादुका त्रासा।
अब तजहु बीरबर! भारत की सब आसा॥५॥

चलहु बीर! उठि तुरत सबै जय ध्वजहि उड़ाओ।
लेहु म्यान सों खड्ग खींचि रनरंग जमाओ॥
परिकर कसि कटि उठो धनुप पै धरि सर साधौ।
केसरिया बानो सजि सजि रनकंकन बाँधौ॥
जौं आरजगन एक होइ निज रूप सम्हारैं।
तजि गृहकलहहिँ अपनी कुलमरजाद विचारैं॥
तौ ये कितने नीच कहा इनको बल भारी।
सिंह जगे कहुँ स्वान ठहरिहैं समर मँझारी॥
पदतल इन कहँ दलहु कीट त्रिन सरिस दुष्ट चय।
तनिकहुँ संक न करहु, धर्म जित जय तित निश्चय॥

जे न सुनहिं हित भलो करहिं नहिं तिनसों आसा कौन।
डंका दै निज सैन साजि अब करहु उतै सब गौन॥
तिनको तुरितहिं हतौ मिलैं रन कै घर माहीं।
इन दुष्टन सों पाप किएहूँ पुन्य सदाहीं॥
चिउँटिहु पदतल दबे डसत ह्वै तुच्छ जंतु इक।
ये प्रतच्छ अरि इनहिं उपेछै जौन ताहि धिक॥
धिक तिन कहँ जे आर्य होइ दुष्टन को चाहैं।
धिक तिन कहँ जे इनसों कछु सम्बन्ध निबाहैं॥
उठहु बीर ! तरवार खींचि मारहु घन संगर।
लोह लेखनी लिखहु आर्य बल सत्रु हृदय पर।
मारू बाजे बजैं कहौं धौंसा घहराहीं।
उड़हिं पताका सत्रु हृदय लखि लखि थहराहीं।
चारन बोलहिं आर्य सुजस बन्दी गुन गावैं।
छुटहिं तोप घनघोर सबै बन्दूक चलावैं॥
चमकहिं असि भाले दमकहिं ठनकहिं तन बखतर।
हींसहिं हय झनकहिं रथ गज चिक्करहिं समर थर॥
छन महँ नासहिं आर्य नीच दुष्टन कह करि छय।
कहहु सबै भारत जय भारत जय भारत जय॥

बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन'

प्रेमघनजी का जन्म मिरज़ापुर के एक प्रतिष्ठित रईस गुरुचरणलाल जी उपाध्याय के यहाँ सं० १९१२ भाद्रपद कृष्ण षष्ठी को हुआ था। बचपन ही में (५ वर्ष की अवस्था से पूर्व ही) हिंदी अक्षरों का अभ्यास इनकी सुशिक्षिता माता ने करा दिया था। कुछ काल के अनन्तर काव्यरसज्ञ पं० रामानन्द पाठक इनके अध्यापन कार्य के लिए नियुक्त हुए। बस, यहीं से इन्हें कविता के प्रति अनुराग उत्पन्न हुआ।

आप भारतेन्दु जी के मित्रों में से एक थे। ब्रजभाषा से आपको बहुत स्नेह था। उसे ही यह कवियों की भाषा मानते थे। यही कारण है कि खड़ी बोली में 'आनन्द अरुणोदय' के अतिरिक्त इनकी और कविताएँ नहीं हैं। इनके

ग्रन्थ आपको प्रकाशित कम दिखाई देंगे, इसका एक विशेष कारण है, इनकी कविता का उद्देश्य निज मन का प्रसाद मात्र था।

आप सं० १९८० में दिवंगत हुए और अपनी अमर कीर्ति को अपनी यादगार में छोड़ गये।

आनन्द अरुणोदय

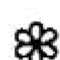
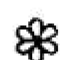
हुआ प्रबुद्ध वृद्ध भारत फिर निज आरत दशा निशा का।
समझ अन्त अतिशय प्रमुदित हो तनिक तब उसने ताका॥
अरुणोदय एकता दिवाकर प्राची दिशा दिखाती।
देखा नव उत्साह परम पावन प्रकाश फैलाती॥
उद्यम रूप सुखद मलयानिल दक्षिण दिश से आता।
शिल्प कमल कलिका कलाप को बिना विलम्ब खिलाता॥
देशी बनी वस्तुओं का अनुराग पराग उड़ाता।
शुभ आशा पराग फैलाता मन मधुकर ललचाता॥
वस्तु विदेशी तारकावली करती लुप्त प्रतीची।
विद्वेषी उलूक छिपने की कोटर बनी उदीची॥
उन्नति पथ अति स्वच्छ दूर तक पड़ने लगा दिखाई।
खग 'वन्दे मातरम्' मधुर ध्वनि पड़ने लगी सुनाई॥
तजि उपेक्षालस निद्रा उठि बैठा भारत ज्ञानी।
ध्याय परम करुणावरुणालय बोला शुभप्रद बानी॥
"उठो आर्यसन्तान सकल मिलि बस न विलम्ब लगाओ।
बृटिश राज्य स्वातन्त्र्यमय समय व्यर्थ न बैठि बिताओ॥
देखो तो जग मनुज कहाँ से कहाँ पहुँच कर भाई।
धर्म, नीति, विज्ञान, कला, विद्या, बल, सुमति सुहाई॥
की उन्नति निजदेश, जाति, भाषा, सभ्यता सुखों की।
तुम सब ने सीखी वह बान रही जो खानि दुखों की"॥
"बीती जो उसको भूलो सँभलो अब तो आगे से।
मिलो परस्पर सब भाईबँध एक प्रेम के धागे से॥

आर्यवंश को करो एक, अब द्वैत भेद बिनसाओ।
मन वच कर्म एक हो वेदविदित आदर्श दिखाओ॥
बैठो सब थल एक ध्याय सर्वेश एक अविनाशी।
एक विचार करो थिर मिलकर जग आतंक प्रकाशी॥
मिथ्याडम्बर छोड़ धर्म का सच्चा तत्त्व विचारो।
चारों वेद कथित चारों युग प्रचलित प्रथा प्रचारो॥
चारों वर्णाश्रम की चारों भिन्न धर्म के भागी।
निज निज धर्माचरण यथाविधि करो कपट छल त्यागी॥
सत्य सनातन धर्म ध्वजा हो निश्चल गगन उड़ाओ।
श्रौत स्मार्त कर्म अनुशासन की दुन्दुभी बजाओ॥
फूंको शंख अनन्य भक्ति हरि, ज्ञानप्रदीप जलाते।
जगत प्रशंसित आर्यवंश जय जय की धूम मचाते॥

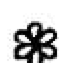
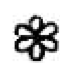
भारत-वन्दना

जय जय भारतभूमि भवानी।
जाकी सुयश पताका जग के दस हूँ दिसि फहरानी।
सब सुख सामग्री पूरित ऋतु सकल समान सोहानी॥
जा श्री सोभा लखि अलका अरु अमरावती खिसानी।
धर्म सूरजित उयो नीति जहँ गई प्रथम पहिचानी॥
सकल कला गुन सहित सभ्यता जहँ सो सबहिं सुभानी।
भये असंख्य जहाँ जोगी तापस ऋषिवर मुनि ज्ञानी॥
विबुध विप्र विज्ञान सकल विद्या जिनते जग जानी।
जग विजयी नृप रहे कबहुँ जहँ न्याय निरत गुन खानी॥
जिन प्रताप सुर असुरनहू की हिम्मति बिनसि बिलानी।
कालहु सब अरि तृन समझत जहँ के क्षत्री अभिमानी॥
वीरवधू बुधजननि रहीं लावन जित सती सयानी।
कोटि कोटि जित कोटि पती रत बनिक बनिक धन दानी॥
सेवत शिल्प यथोचित सेवा सूद समृद्धि बढ़ानी।
जाको अन्न खाय ऐंडति जग जाति अनेक अघानी॥

जाकी सम्पति लुटत हजारन बरसनहूँ न खोटानी।
सहस सहस बरिसन दुख नित नव जो न ग्लानि उर आनी ॥
धन्य धन्य पूरब सम जग नृपगन मन अजहुँ लोभानी।
प्रनमत तीस कोटि जन अजहूँ जाहि जोरि जुग पानी ॥
जिनमैं झलक एकता की लखि जगमति सहम सकानी।
ईस कृपा लहि बहुरि 'प्रेमघन' बनहु सोई छवि छानी ॥
सोई प्रताप गुणजन गर्वित ह्वै भरी पुरी धन धानी ॥

नये नये मत चले, नये झगड़े नित बाढ़े।
नये नये दुख परे सीस भारत पै गाढ़े ॥
छिन्न भिन्न ह्वै साम्राज्य लघु राजन के कर।
गयो, परस्पर कलह रह्यो बस भारत मैं भर ॥
रही सकल जग व्यापी भारत राज बड़ाई।
कौन विदेसी राज न जो या हित ललचाई ॥
लखिकै वीरविहीन भूमि भारत की आरत।
सबै सुलभ समझ्यो या कहँ आतुर असि धारत ॥
जरमन जर मन मारि बनो जाको है अनुचर।
रूम रूम सम, रूस रूस बनि फूस बराबर ॥
पाय परसि तुव पारस पारस के सम पावत।
पकरि कान अफ़गान राज पर तुम बैठावत ॥

प्रतापनारायण मिश्र

मिश्र जी का जन्म आश्विन कृष्ण नवमी विक्रम संवत् १९१२ में हुआ था। इनके पिता का नाम पं० संकटाप्रसाद था। बचपन में इन्हें ज्योतिष का शौक़ था। ये फ़ारसी, उर्दू, संस्कृत के अच्छे विद्वान् थे। बड़ी मौजी तबीयत के थे, अपने रंग में मस्त रहते थे। इनके कविता अनुराग का कारण—भारतेन्दु की कविता और उनका 'कविवचनसुधा' पत्र थे।

आपको छन्दःशास्त्र के नियम सिखाने का श्रेय पं० ललिताप्रसाद जी त्रिवेदी को है। आपको हिन्दी के पत्र पढ़ने का बचपन से ही शौक़ था। इसी

से उत्साहित होकर आपने 'ब्राह्मण' पत्र निकाला। संवत् १९४६ में आप कालाकाँकर में 'हिन्दोस्तान' पत्र के सहकारी सम्पादक रहे।

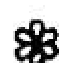
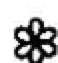
मिश्र जी नाटक खेलने में बड़े निपुण थे। 'प्रेम एव परमो धर्मः' उनका सिद्धान्त था। वे कांग्रेस के पक्षपाती थे। उनकी कविता में देश-प्रेम अच्छी तरह झलकता है।

इन्होंने १२ पुस्तकों का भाषानुवाद किया, और २० पुस्तकें लिखीं। इनकी कविता सरस और प्रभावोत्पादक होती थी।

इनका देहान्त आषाढ़ शुक्ला चतुर्थी सं० १९५१ को हुआ।

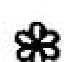
ईश-वन्दना

पितु मात सहायक स्वामि सखा तुम ही इक नाथ हमारे हौ।
जिनके कछु और अधार नहीं तिनके तुम ही रखवारे हौ॥
सब भाँति सदा सुखदायक हौ दुख दुर्गुन नासन हारे हौ।
प्रतिपाल करौ सिगरे जग को अतिसै करुना उर धारे हौ॥
भुलिहैं हम ही तुमको तुम तौ हमरी सुधि नाहिं बिसारे हौ।
उपकारन को कछु अन्त नहीं छिन ही छिन जो बिस्तारे हौ॥
महाराज महा महिमा तुम्हरी समुझैं बिरले बुधिवारे हौ।
शुभ शान्तिनिकेतन प्रेमनिधे! मनमन्दिर के उजियारे हौ॥
यहि जीवन के तुम जीवन हौ इन प्रानन के तुम प्यारे हौ।
तुम सों प्रभु पाय 'प्रताप हरी' किहि के अब और सहारे हौ॥

साधो मनुवाँ अजब दिवाना।
माया मोह जनम के ठगिया तिनके रूप भुलाना॥
छल परपंच करत जग धूनत दुख को सुख करि माना।
फिकिर तहाँ की तनिक नहीं है अंत समय जहँ जाना॥
मुख ते धरम धरम गोहरावत करम करत मनमाना।
जो साहब घट घट की जानै तेहि तैं करत बहाना॥
तेहि ते पूछत मारग घर को आपहि जौन भुलाना।
'हियाँ कहाँ सज्जन कर वासा' हाय न इतनौ जाना॥

यहि मनुवाँ के पीछे चलि के सुख का कहाँ ठिकाना।
जो 'परताप' सुखद को चीन्हे सोई परम सयाना॥

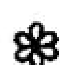
जागो भाई, जागो रात अब थोरी।
काल चोर नहिं करन चहत है जीवन धन की चोरी॥
औसर चूके फिर पछितैहो हाथ मींजि सिर फोरी।
काम करो नहिं काम न ऐहैं बातें कोरी कोरी॥
जो कछु बीती बीत चुकी सो चिंता ते मुख मोरी।
आगे जामे बनै सो कीजै करि तन मन इक ठौरी॥
कोऊ काहू को नहिं साथी मात पिता सुत गोरी।
अपने कर्म आपने संगी और भावना भोरी॥
सत्य सहायक स्वामि सुखद से लेहु प्रीति जिय जोरी।
नाहि तु फिर 'परताप हरी' कोऊ बात न पूछिहि तोरी॥

क्रन्दन

तव लखिहो जहँ रह्यो एक दिन कंचन 'बरसत।
तहँ चौथाई जन रूखी रोटिहुँ कहँ तरसत॥
जहँ आमन की गुठली अरु बिरछन की छालैं।
ज्वार चून महँ मेलि लोग परिवारहिं पालैं॥
नौन तेल लकरी घासहु पर टिकस लगे जहँ।
चना चिरौंजी मोल मिलैं जहँ दीन प्रजा कहँ॥
जहाँ कृषी वाणिज्य शिल्प सेवा सब माहीं।
देशिन के हित कछू तत्त्व कहुँ कैसे नाहीं॥
कहिय कहाँ लगि नृपति दवे हैं जिह रिन भारन।
तहँ तिनकी धन कथा कौन जे गृही सधारन॥
जहँ महीप लगि रजीडण्ट सों यहि डर डरहीं।
अस न होय कहुँ तनक रूठि धन धामहिं हरहीं॥
तहँ साधारन लोगन की तौ कहा चलाई।
नित घेरे ही रहत दुसह दारिद दुचिताई॥

यहि कर केवल हेतु यहै जो नये नये नित।
कर अरु चन्दा देन परैं प्रति प्रजहि अपरिमित॥
कछू काम कोऊ करैं कहूँ ते कोऊ आवैं।
कहुँ कछु घटना होय हिन्द ही द्रव्य लगावैं॥
लेनहार सुख दुःख आय व्यय कबहुँ न पूछैं।
देत देत सब भाँति होहिं हम छिन छिन छूछैं॥
जे अनुशासन करन हेत इत पठये जाहीं।
ते बहुधा बिन काज प्रजा सों मिलत लजाहीं॥
जिते दिवस ह्याँ रहहिं तितेकहु लघु अवसर महँ।
जनरञ्जन हित करहि न स्वीकृत कछुक नष्ट कहँ॥
तनिकहु भोग विलास माँहि त्रुटि करन न चहहीं।
नेकहि ग्रीष्म लखे पर्वतन कर पथ गहहीं॥
निज इच्छा अनुसार करहिं सब सेत कृष्ण कृति।
कछु दिन महँ चल देहिं विलायत यह कुजोग अति॥
चलत जिते कानून इहाँ उनकी गति न्यारी।
जस चाहहिं तस फेरि सकहिं तिन कहँ अधिकारी॥
बड़े बड़े बारिस्टर बहुधा बकि बकि हारैं।
पै हाकिम जन जस जिय चाहैं तस कर डारैं॥
प्रजा न जानहिं कौन इकट केहि अर्थ बन्यो कब।
पै यह अचरज ! तोह बन्धन महँ कसे रहैं सब॥
समय परे पर खोय मान धन दण्ड सहे हैं।
घर बाहर के काज छोड़ि दौरतहि रहै हैं॥
उदर हेत जे शिर बेंचन पलटन महँ जाहीं।
गोरे रँग बिनु ठीक आदरित वेऊ नाहीं॥
गौर स्याम रँग भेद भाव अस दस दिस छायो।
जिहि नेटिव नामहि कहँ तुच्छ प्रतिच्छ दिखायो॥
वे बधहू करि कबहुँ कबहुँ कोरे बचि जाहीं।
पै ये कहुँ कहुँ लकुट लेतहू धमकी खाहीं॥

उनके सुख हित जतन करत हाकिम सब रहहीं।
इनके जिय शत शंक उठहि जब निज दुख कहहीं ॥

नाथूराम 'शंकर'

शंकर जी का जन्म विक्रम संवत् १९१६ की चैत्र शुक्ला पञ्चमी को हरदुआगंज (अलीगढ़) में हुआ था। इनके पिता का नाम पं० रूपराम था। इनकी माता इन्हें सवा सात साल का ही छोड़ कर परलोकवासिनी हो गई थीं। इनका पालन-पोषण इनकी नानी और बुआ ने किया था।

आप कानपुर में नहर के दफ्तर में ६ वर्ष तक नकशानवीसी का काम करते रहे। बाद में इन्होंने घर आकर चिकित्सा आरम्भ कर दी। यह पीयूषपाणि वैद्य थे।

कविता का शौक इनको १३ वर्ष की अवस्था से ही हो गया था। आपकी समस्यापूर्ति कवि-समाज में बहुत प्रसिद्ध हैं। समस्यापूर्ति आप प्रायः ब्रजभाषा में करते थे। आप खड़ी भाषा में बहुत सुन्दर कविता करते थे। आप अपनी कविता में एक विशेष नियम का निर्वाह करते थे। आप मात्रिक और वर्णिक दोनों प्रकार के छन्दों में वर्णों की समान संख्या रखते थे। आप में एक विलक्षण शक्ति थी कि एक ही समस्या की पूर्ति आप सब रसों में अच्छी तरह कर लेते थे। यहाँ तक कि 'इमि कंज पै सोहि रह्यो चतुरानन' जैसी समस्या की पूर्ति आपने वीभत्स रस में बड़ी सुन्दरता से की थी।

आप आर्यसमाज से विशेष सम्बन्ध रखते थे। संग्रहणी रोग पीड़ित होकर आप, कुछ समय हुआ है कि, परलोकवासी हो गये। आप पर हिन्दी-जगत् को विशेष अभिमान है।

मेरा महत्त्व

मंगल मूल महेश, मुक्ति-दाता शंकर है।
शंकर का उपदेश, महा विद्या का घर है ॥
शंकर जगदाधार, तुझे मैं जान चुका हूँ।
उन्नति का अवतार, वेद को मान चुका हूँ ॥१॥
मेरा विशद विचार, भारती का मन्दिर है।
जिसमें वन्ध विकार, कल्पना सा अस्थिर है ॥

प्रतिभा का परिवार, उसी में खेल रहा है।
अवनति को संसार, कूप में ठेल रहा है॥२॥

रहै निरन्तर साथ, धर्म दश लक्षण धारी।
पकड़ रहा है हाथ, सुकर्मोदय हितकारी॥
प्रति दिन पाँचों याग, यथाविधि करता हूँ मैं।
सकल कामना त्याग, स्वतंत्र विचरता हूँ मैं॥३॥

सारहीन हठवाद, छोड़ आचरण सुधारे।
छल पाखंड प्रमाद, विरोध विलास बिसारे॥
मन में पाप कलाप, कुमति का वास नहीं है।
मदन मोह सन्ताप, कुलक्षण पास नहीं है॥४॥

मुझमें ज्ञान विराग, बुद्ध से भी बढ़कर है।
अविनाशी अनुराग, असीम अहिंसा पर है॥
निरख न्याय की रीति, मुझे सब राम कहेंगे।
परख अनूठी नीति, सुधी घनश्याम कहेंगे॥५॥

रोगहीन बलवान, मनोहर मेरा तन है।
निश्चल प्रेम प्रधान, सत्य सम्पादक मन है॥
निर्मल कर्म विचार, वचन में दोष कहाँ है।
मुझ-सा अन्य उदार, धन्य मृदु घोष कहाँ है॥६॥

वीतराग बिन रोष, एक मुनि नायक पाया।
निगुरापन का दोष, उसे गुरु मान मिटाया॥
यद्यपि सिद्ध स्वतंत्र, जगद्गुरु कहलाता हूँ।
तो भी गुरुमुख मन्त्र, मान मन बहलाता हूँ॥७॥

दुःखरूप सब अंग, अविद्या के पहचाने।
सुख सम्पन्न प्रसंग, अर्थ अपरा के जाने॥
दोनों पर अधिकार, परा विद्या करती है।
अखिलानन्द अपार, एकता में भरती है॥८॥

जिसकी उलटी चाल, न सीधा सुगम दिखावे।
जिसका कोप कराल, न मेल-मिलाप सिखावे॥

जो खलदल को घोर, नरक में ठेल रही है।
वह माया चहुं ओर, खेल खुल खेल रही है ॥९॥

जो सब के गुण कर्म, स्वभाव समस्त बतावे।
जो ध्रुव धर्म अधर्म, शुभाशुभ को समझावे॥
जिसमें जगदाकार, भद्रमुख भाव भरा है।
वही विविध व्यापार, बलित विद्या अपरा है॥१०॥

जीव जिसे अपनाय, फूल-सा खिल जाता है।
योगसमाधि लगाय, ब्रह्म से मिल जाता है॥
जिसमें एक अनेक, भावना से रहता है।
उसको सत्य विवेक, परा विद्या कहता है॥११॥

जिसमें जड़ चैतन्य, सर्व संघात समावे।
जिस अनन्य में अन्य, वस्तु का बोध न पावे॥
जिस जी में रस उक्त, योग का भर जावेगा।
हाँ वह जीवनमुक्त, मृत्यु से तर जावेगा॥१२॥

बालकपन में राँड, अविद्या की जड़ काटी।
तरुण हुआ तो खाँड, खीर खपरा की चाटी॥
अब तो उत्तम लेख, परा के बाँच रहा हूँ।
बुढ़वा मंगल देख, जरा को जाँच रहा हूँ॥१३॥

पढ़ता था दिन रात, महा श्रम का फल पाया।
निखिल तंत्र निष्णात, राजपंडित कहलाया॥
लालच का बल पाय, लंठगढ़ तोड़ दिया था।
केवल गाल बजाय, धनाधन जोड़ दिया था॥१४॥

रहे प्रतारक संग, कपट की बेलि बढ़ाई।
मन भाये रसरंग, प्रेम की रही चढ़ाई॥
भोजन पान विहार, यथारुचि करता था मैं।
विधि-निषेध का भार, न सिर पै धरता था मैं॥१५॥

बालविवाह विशाल, जाल रच पाप कमाया।
ब्रह्मचर्य व्रत काल, वृथा विपरीत गमाया॥

अबला ने चुपचाप, उठाय पछाड़ा मुझको।
बेटा जन कर बाप, बनाय बिगाड़ा मुझको ॥१६॥
प्यारे गुरु लघु लोग, मरे घरबार बिसारे।
करनी कै फल भोग, भोग सुरधाम सिधारे॥
वनिता ने जब हाथ, हटाकर छोड़ा मुझको।
तब सुधार के साथ, सुमति ने जोड़ा मुझको ॥१७॥
पहले पुत्र अकाल, मृत्यु के मुख में डाला।
पाय मनोहरलाल, दूसरा सुख से पाला॥
उसने धन भंडार, भरा घर पाया मेरा।
अब शिव ने संसार, कुटुम्ब बनाया मेरा ॥१८॥
जिस जीवन की चाल, बुरा करती थी मेरा।
बीत गया वह काल, मिटा अंधेर अँधेरा॥
पिछले कर्मकलाप, बताना ठीक नहीं है।
अपने मन को आप, सताना ठीक नहीं है ॥१९॥
हिमगिरि ज्ञानागार, धवल मेधा ध्रुव नन्दा।
उसमें डुबकी मार, मार मन रहा न गन्दा॥
पातकपुंज पजार, पुण्य भरपूर किया है।
ज्ञानप्रकाश पसार, मोहतम दूर किया है ॥२०॥
जान लिया हठयोग, अखंड समाधि लगाना।
कर्मयोग फल भोग, अमंगल भूत भगाना॥
क्या मुझ-सा व्रतसिद्ध, सुधारक और न होगा?
होगा पर सुप्रसिद्ध, सर्व-सिरमौर न होगा ॥२१॥
क्या करते अतिवाद, वचन सुन मेरे तीखे।
गौतम कृष्ण कणाद, पतंजलि व्यास सरीखे॥
युक्तिहीन नर-ग्रन्थ, न जी में भर सकते हैं।
तर्कशत्रु मत पंथ, भला क्या कर सकते हैं ॥२२॥
बनकर मेरा जोड़, न ऊत अजान अड़ेगा।
पंडित भी भय छोड़, न टेक टिकाय लड़ेगा॥

भिड़ा न भारत धर्म, मुखर मंडल में कोई।
दिखला सका सुकर्म, न वैदिक दल में कोई।।२३।।

मैंने असुर अजान, प्रमादी पिशुन पछाड़े।
हार गये अभिमान, भरे अवधूत अखाड़े।।
जिसकी चपला चाल, देश को दल सकती है।
क्या उस दल की दाल, यहाँ भी गल सकती है।।२४।।

हेकड़ होड़ दवाय, उलझने को आते हैं।
पर वे मुझे नवाय, न ऊँचा पद पाते हैं।।
जिसका घोर घमंड, घरेलू घट जाता है।
वह प्रचंड उद्दंड, हठीला हट जाता है।।२५।।

ठग मेरे विपरीत, बुरी बातें कहते हैं।
घर ही में रणजीत, बने बैठे रहते हैं।।
मैं कलिकाल-विरुद्ध, प्रतापी आप हुआ हूँ।
पाकर जीवन शुद्ध, निरा निष्पाप हुआ हूँ।।२६।।

जो जड़मति का कोप, न पूजेगा पग मेरे।
उस अजान के दोष, दिखा दूँगा बहुतेरे।।
जो मुझको गुरु मान, प्रेम के साथ रहेगा।
उस पर मेरे मान, दान का हाथ रहेगा।।२७।।

मैं असीम अभिमान, महामहिमा के बल से।
डरता नहीं निदान, किसी प्रतियोगी दल से।।
निगमागम का मर्म, विचार लिया करता हूँ।
तदनुसार सद्धर्म, प्रचार किया करता हूँ।।२८।।

तन में रही न व्याधि, न मन में आधि रही है।
रही न अन्य उपाधि, अनन्य समाधि गही है।।
अनघ शिष्य को सर्व, सुधार सिखा सकता हूँ।
अपना गौरव गर्व, अदम्य दिखा सकता हूँ।।२९।।

मुझको साधुसमाज, शुद्ध जीवन जानेगा।
सर्वोपरि मुनिराज, सिद्धमण्डल मानेगा।।

अपना नाम पवित्र, प्रसिद्ध किया है मैंने।
शुभ चरित्र का चित्र, दिखाय दिया है मैंने ॥३०॥

यद्यपि लालच दूर, कर चुका हूँ मैं मन से।
तो भी मठ भरपूर, भरा रहता है धन से॥
छोड़ दिये सुख-भोग, विषय रस रूखा हूँ मैं।
दान करें सब लोग, सुयश-मधु-भूखा हूँ मैं ॥३१॥

वेद और उपवेद, पढ़ा सकता हूँ पूरे।
अङ्ग-विधायक भेद, रहेंगे नहीं अधूरे॥
तर्क प्रवाह तरङ्ग, विचित्र दिखा दूँ सारे।
पौराणिक रस रङ्ग, प्रसङ्ग सिखा दूँ सारे ॥३२॥

ग्रन्थ विना अनुवाद, किसी भाषा का रख लो।
उसके रस का स्वाद, खड़ी बोली में चख लो॥
जो अनुचर अल्पज्ञ, न ज्यों का त्यों समझेगा।
वह मुझको सर्वज्ञ, कहो तो क्यों समझेगा ॥३३॥

यदि मैं व्यर्थ न जान, काम कविता से लेता।
तो तुक्कड़ कुल मान, दान क्या मुझे न देता॥
लेखक लेख निहार, लेखनी तोड़ चुके हैं।
संपादक हिय हार, हेकड़ी छोड़ चुके हैं ॥३४॥

शिल्प रसायन सार, कहो जिसको सिखला दूँ।
अभिनव आविष्कार, अनूठे कर दिखला दूँ॥
भूमियान जलयान, विमान बना सकता हूँ।
यन्त्र सजीव समान, अजीव जना सकता हूँ ॥३५॥

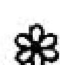
गोल भूमि पर डोल, डोल सब देश निहारे।
खोल गगन की पोल, वेध कर परखे तारे॥
लोक मिले चहुँ ओर, कहीं अवलंब न पाया।
विधि ने जिसका छोर, छुआ वह लम्ब न पाया ॥३६॥

दे-देकर उपदेश, पूजा देशी मंडल में।
किया न चंचु-प्रवेश, राज-विद्रोही दल में॥

अब सरिता के तीर, कुटी में वास करूँगा।
त्याग अनित्य शरीर, काल का ग्रास करूँगा ॥३७॥

मेरा अनुचर चक्र, चुटीली चाल चलेगा।
रौंद-रौंदकर वक्र, कुचालों को कुचलेगा ॥
मानव दल की दूर, दुर्दशा कर देवेगा।
भारत में भरपूर, भलाई भर देवेगा ॥३८॥

सुनकर मेरी आज, अनूठी राम-कहानी।
धन्य धन्य मुनिराज, कहेंगे आदर दानी ॥
पंडित परमोदार, प्रवीण प्रणाम करेंगे।
लंपट लंठ लबार, वृथा बदनाम करेंगे ॥३९॥

कालकौतुक

सुभद्रा-छन्द

सविता के सब ओर, मही माता चकराती है।
घूम घूम दिन रात, महीना वर्ष बनाती है ॥
कल्प लों अन्त न आता है।
हा ! इस अस्थिर काल-चक्र में जीवन जाता है ॥१॥

चैत्र

छोड़ छदन प्राचीन, नये दल वृक्षों ने धारे।
देख विनाश विकाश, रूप रूपक न्यारे न्यारे ॥
दुरंगी चैत दिखाता है।
हा ! इस अस्थिर काल-चक्र में जीवन जाता है ॥२॥

वैशाख

सूख गये सब खेत, सुखा दी सारी हरियाली।
गहरी तीत निचोड़, मेदिनी रूखी कर डाली ॥
धूलि वैशाख उड़ाता है।
हा ! इस अस्थिर काल-चक्र में जीवन जाता है ॥३॥

ज्येष्ठ

झील सरोवर फूँक, पजारे नदियों के सोते।
व्याकुल फिरें कुरंग, प्राण तृष्णा पै खोते॥
जलों को जेठ जलाता है।
हा! इस अस्थिर काल-चक्र में जीवन जाता है॥४॥

आषाढ़

दामिनि को दमकाय, दहाड़े धाराधर धाये।
मारुत ने झकझोर, झुकाये झूमे झर लाये॥
लगी आषाढ़ बुझाता है।
हा! इस अस्थिर काल-चक्र में जीवन जाता है॥५॥

श्रावण

गुल्म लता तरु पुंज, अनूठे दृश्य दिखाते हैं।
बरसे मेह विहंग, विलासी मंगल गाते हैं॥
बड़ाई श्रावण पाता है।
हा! इस अस्थिर काल-चक्र में जीवन जाता है॥६॥

भाद्रपद

उपजे जन्तु अनेक, भिलारे झील नदी नाले।
भेद मिटा दिन रात, एक से दोनों कर डाले॥
सुधा भादों बरसाता है।
हा! इस अस्थिर काल-चक्र में जीवन जाता है॥७॥

आश्विन

फूल गये सर काँस, बुढ़ापा पावस पै छाया।
खिलने लगी कपास, शीत का शत्रु हाथ आया॥
कृषी को क्वाँर पकाता है।
हा! इस अस्थिर काल-चक्र में जीवन जाता है॥८॥

कार्त्तिक

शुद्ध हुए जल वायु, खुला आकाश खिले तारे।
बोये विविध अनाज, उगे अंकुर प्यारे प्यारे॥

दिवाली कार्त्तिक लाता है।
हा ! इस अस्थिर काल-चक्र में जीवन जाता है ॥९॥

मार्गशीर्ष

शीतल बहै समीर, सभी को शीत सताता है।
हायन भर का भेद, जिसे दैवज्ञ बताता है ॥
अग्रहायन से पाता है।
हा ! इस अस्थिर काल-चक्र में जीवन जाता है ॥१०॥

पौष

टपके ओस तुषार, पड़े जम जाता है पानी।
कट कट बाजें दाँत, मरी जल-शूरों की नानी ॥
पुजारी पौष नहाता है।
हा ! इस अस्थिर काल-चक्र में जीवन जाता है ॥११॥

माघ

हुआ मकर का अन्त, घटी सरदी अम्वा बौरे।
विकसे सुन्दर फूल, अरुण, नीले, पीले, धौरे ॥
माघ मधु को जन्माता है।
हा ! इस अस्थिर काल-चक्र में जीवन जाता है ॥१२॥

फाल्गुन

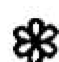
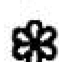
खेत पके अब आँख, ईश ने उन्नति की खोली।
अन्न मिला भरपूर, प्रजा के मन मानी होली ॥
फाल्गुन फाग खिलाता है।
हा ! इस अस्थिर काल-चक्र में जीवन जाता है ॥१३॥

लौंद

विधु से इनका शब्द, बड़ाई इतनी लेता है।
जिसका तिगुना मान, मास पूरा कर देता है ॥
वही तो लौंद कहाता है।
हा ! इस अस्थिर काल-चक्र में जीवन जाता है ॥१४॥

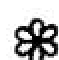
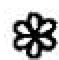
कवि की आयु

किया न प्रभु से मेल, करेगा क्या मन के चीते।
यों ही दग शर वर्ष, वृथा 'शङ्कर' तेरे बीते॥
न पापों पै पछताता है।
हा! इस अस्थिर काल-चक्र में जीवन जाता है॥१५॥

प्रभु के प्यारे

जिस अविनाशी से डरते हैं, भूत देव जड़ चेतन सारे।
जिसके डर से अम्बर बोले, उग्र मन्द गति मारुत डोले।
पावक जले प्रवाहित पानी, युगल वेग वसुधा ने धारे॥
जिसका दण्ड दसों दिसि धावै, काल डरै ऋतु-चक्र चलावै।
बरसे मेघ दामिनी दमके, भानु तपै चमकें शशि तारे॥
मन को जिसका कोप डरावै, घेर प्रकृति को नाच नचावै।
जीव कर्मफल भोग रहे हैं, जीवन जन्म मरण के मारे॥
जो भय मान धर्म धरते हैं, 'शंकर' कर्मयोग करते हैं।
वे विवेक-वारिधि बड़भागी, बनते हैं उस प्रभु के प्यारे॥

भव-सागर में तैर रहे हैं, जिनके उज्ज्वल जीवन-पोत।
सुन्दर वन में रहते थे वे, दिव्य कपोती और कपोत॥
छलकर उस जोड़े की मादा, पकड़ी एक वधिक ने हाय।
नर, सूना घर देख अकेला, रोने लगा महा दुख पाय॥
बोला—पानी बरस चुका है, हा। चलता है पवन प्रचण्ड।
प्राणप्रिया बिन मुझ विरही को, हे हरि! ऐंठ धरेगी ठण्ड॥
परम सुशीला प्रेम-भाव से, जो सुख देती है भरपूर।
आज अकारण ही वह वाला, हाय हो गई मुझसे दूर॥
जन्मकाल से साथ रही थी, हा! प्यारी बिछुड़ी क्यों आज।
हा! संकट-सागर में मेरा, डूबा जीवन-रूप जहाज॥

पारावत पाकर पर बैठा, सहता था यों विरह-विषाद।
नीचे व्याकुल काँप रहा था, लिये कपोती को सय्याद॥
कहा कबूतर की दुलही ने, सुनो कृपा कर करुणाकन्द।
मन प्रभु के पग चूम रहा है, तन है इस पिंजड़े में बन्द॥
जो अबला करती है अपने, पति की सेवा में संकोच।
केवल भू पर भारभूत है, उस कुटिला का जीवन पोच॥
जिस ललना ने जान लिया है, सर्वोपरि पतिव्रत धर्म।
उस अनघा से कभी न होंगे, कुलटा के से घोर कुकर्म॥
प्रभु के चरणों की पूजा का, है मुझको पूरा अभिमान।
जबलों दूर रहूँगी तबलों, नहीं करूँगी भोजन-पान॥
भूखा, प्यासा, काँप रहा है, वधिक अभागा मरणासन्न।
इस प्रतियोगी शरणागत को, देव ! दया कर करो प्रसन्न॥
मीठे बोल सुने वनिता के, उड़ा कबूतर पंख पसार।
जलती लकड़ी लाय कहीं से, सूखे पल्लव दिये पसार॥
तब उस आखेटी ने अपना, दूर कर लिया दारुण शीत।
तब कपोत निन्दा कर अपनी, बोला सादर वचन विनीत॥
अब आतिथ्य करूँ किस विधि से, अन्न नहीं कुछ मेरे पास।
लो, आमिष देता हूँ अपना, भोजन कर लेना दो ग्रास॥
यों कहकर उस पारावत ने, झट पावक में किया प्रवेश।
प्राण दान कर अभ्यागत को, दिया अहिंसा का उपदेश॥
माया धर्म विवेक वधिक ने, देख कबूतर का वह हाल।
छोड़ कपोती को, धर फूँके लासा डंगी पिंजड़ा जाल॥
दैवयोग से दान दया का, आया हत्यारे के हाथ।
धन्य धन्य ! जल गई चिता में, मादा अपने नर के साथ॥

('वायसविजय' से)

द्विज वेद पढ़ैं सुविचार बढ़ैं बल पाय चढ़ैं सब ऊपर को।
अविरुद्ध रहैं ऋजुपन्थ गहैं परिवार कहैं बसुधा भर को॥

ध्रुव धर्म धरैं पर दुःख हरैं तन त्याग तरैं भवसागर को।
दिन फेर पिता, वर दे सविता, कर दे कविता कवि 'शंकर' को ॥
विदुषी उपजैं क्षमता न तजैं व्रत धार भजैं सुकृती वर को।
सधवा सुधरैं विधवा उबरैं सकलंक करैं न किसी घर को ॥
दुहिता न बिकैं कुटनी न टिकैं कुलबोर छिकैं तरसैं दर को।
दिन फेर पिता, वर दे सविता, कर दे कविता कवि 'शंकर' को ॥
नृपनीति जगे न अनीति ठगे भ्रम भूत लगे न प्रजाधर को।
झगड़े न मचैं खल खर्व लचैं मद से न रचैं भट संगर को ॥
सुरभी न कटैं न अनाज घटैं सुख भोग डटैं डपटैं डर को।
दिन फेर पिता, वर दे सविता, कर दे कविता कवि 'शंकर' को ॥
महिमा उमड़े लघुता न लड़े जड़ता जकड़े न चराचर को।
शठता सटके मुदिता मटके प्रतिभा भटके न समादर को ॥
विकसे विमला शुभकर्म कला पकड़े कमला श्रम के कर को।
दिन फेर पिता, वर दे सविता, कर दे कविता कवि 'शंकर' को ॥
मतजाल जलें छलिया न छलें कुल फूल फलें तज मत्सर को।
अघ दम्भ दबें न प्रपञ्च फबें गुनमान नवें न निरक्षर को ॥
सुमरें जप से निरखें तप से सुरपादप से तुम अक्षर को।
दिन फेर पिता, वर दे सविता, कर दे कविता कवि 'शंकर' को ॥

श्रीधर पाठक

पाठक जी जाति के सारस्वत ब्राह्मण थे। आपका जन्म सं० १९१६ में माघ कृष्ण चतुर्दशी को जोन्धरी (आगरा) में हुआ। आपके पिता का नाम पं० लीलाधर जी था।

पाठक जी जब ११ वर्ष के थे, तब ही यह अच्छी संस्कृत बोल लेते थे। अपने पिता जी की मृत्यु पर आपने 'आराध्य शोकांजलि' नामक एक पुस्तिका की रचना की थी, जो बहुत करुणापूर्ण है।

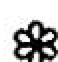
आप अँगरेजी-लेख के लिए भी विख्यात थे। सुपरिण्टेन्डेण्ट के पद पर आपको ३००) रुपये मासिक मिलता था।

पाठक जी प्राकृतिक सौन्दर्य के बड़े प्रेमी थे। आप मिलनसार, सरस-हृदय और आनन्दी पुरुष थे। ब्रजभाषा और खड़ी बोली दोनों पर आपका पूरा अधिकार था। लोग खड़ी बोली का आपको आचार्य भी कहते हैं।

आपने लगभग १५ काव्य लिखे हैं। अखिल भारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के पाँचवें अधिवेशन के सभापति पद को आपने ही सुशोभित किया था। संवत् १९६२ वि० भाद्रपद में आपने इस असार संसार को छोड़ा।

नट नागर

नट नागर हैं न कहीं अटके, नट नागर हैं न कहीं अटके।
अधिवासी बने सब के घट के, रहें तो भी सदा सब से हटके॥
बहें प्रेम-प्रवाह में बे-खटके, नट नागर हैं न कहीं अटके।
जहाँ सत्य पै सीस गिरे कटके, जहाँ कृत्य पै खड्ग खरे खटके॥
वहाँ भृत्य बने अपने भटके, नट नागर हैं न कहीं अटके।
अहिमुण्ड पै जो चढ़िके मटके, गज-सुण्ड पै जाके अड़े डटके॥
अरि हैं अब भी हरि संकट के, नट नागर हैं न कहीं अटके।
धर पाये कभी जो कहीं ठटके, भरे प्रेम के माखन के मटके॥
अटके जो कहीं, तो कहीं अटके, नट नागर हैं न कहीं अटके॥१॥

प्रकृति-सौन्दर्य

कै यह जादूभरी विश्व बाजीगर थैली।
खेलत में खुलि परि शैल के ऊपर फैली॥
पुरुष प्रकृति को किधौं जबै जोवन रस आयो।
प्रेम-केलि-रस-रेलि करन रँग-महल सजायो॥
खिली प्रकृति-पटरानी के महलन फुलवारी।
खुली धरी कै भरी तासु सिंगार-पिटारी॥
प्रकृति यहाँ एकान्त बैठि निज रूप सँवारती।
पल पल पलटति भेस छनिक छवि छिन छिन धारती॥
विमल-अम्बु-सर-मुकुरन महँ मुख-बिम्ब निहारति।
अपनी छवि पै मोहि आपहि तन मन वारति॥
यही स्वर्ग सुरलोक, यही सुरकानन सुन्दर।
यहि अमरन को ओक, यहीं कहुँ वसत पुरन्दर॥२॥

('काश्मीरसुषमा' से)

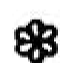
  

स्मरणीय भाव

वन्दनीय वह देश, जहाँ के देशी निज-अभिमानी हों।
बान्धवता में बँधे परस्पर, परता के अज्ञानी हों॥
निन्दनीय वह देश, जहाँ के देशी निज-अज्ञानी हों।
सब प्रकार परतन्त्र, पराई प्रभुता के अभिमानी हों॥

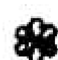
कबहुँ न तहाँ पधारि ग्राम्य जन पग अब धरिहैं।
मधुर भुलौनी माहिं नित्य चिन्ताहि बिसरिहैं॥
ना किसान अब समाचार तहँ आय सुनैहैं।
ना नाऊ की बातैं सब को मन बहलैहैं॥
लकड़हार को विरहा कबहुँ न तहँ सुनि परिहैं।
तान श्रवण आनन्द उदधि कबहूँ न उमरिहैं॥
माँथौ पोंछि लुहार, काम को तहँ रुकिहै ना।
भारी बलहि ढिलाय सुनन बातैं झुकिहै ना॥
घर को स्वामी आपु दीखिहैं तहँ अब नाहीं।
झाग उठे प्याले कों फिरवावत सब पाहीं॥
धनी करहु उपहास तुच्छ मानहु किन मानी।
दीनन की यह लघु सम्पति साधारण जानी॥
मोहि अधिक प्रिय लगै अधिक ही मो हिय भाई।
सबरी बनावटनि सों एक सहज सुघराई॥

जहाँ मनुष्यों को मनुष्य अधिकार प्राप्त नहिं।
जन जन सरल सनेह सुजन व्यवहार व्याप्त नहिं॥
निर्धारित नर नारि उचित उपचार आप्त नहिं।
कलि-मल-मूलक कलह कभी होवै समाप्त नहिं॥

वह देश मनुष्यों का नहीं प्रेतों का उपवेश है।
नित नूतन अघ उद्देश थल भूतल नरक निवेश है॥
साधारण अति रहन सहन, मृदुबोल हृदय हरने वाला।
मधुर मधुर मुसक्यान मनोहर, मनुज वंश का उजियाला॥
सभ्य, सुजन, सत्कर्म-परायण, सौम्य, सुशील, सुजान।
शुद्ध चरित्र, उदार, प्रकृति-शुभ, विद्याबुद्धिनिधान॥
प्राण पियारे की गुणगाथा, साधु कहाँ तक मैं गाऊँ।
गाते गाते चुके नहीं वह, चाहे मैं ही चुक जाऊँ॥
विश्व निकाई विधि ने उसमें की एकत्र बटोर।
बलिहारौं त्रिभुवन धन उस पर वारौं काम करोर॥

('एकान्तवासी योगी' से)

घन-विनय

हे घन किन देसन महँ छाये, बरसा बीति गई।
फिरहु कहाँ भरमाये, क्या यह रीति नई॥
सावन परम सुहावन, पावस सोभा जोय।
सो बिन तुम्हरे आवन, रह्यो भयावन होय॥
गयो सलूनो सूनो, तुम बिन निपट उदास।
दुख बाढ़ै दिन दूनो, चहुँ दिसि परि रह्यो त्रास॥
सरवर सरित सुखानी, रजमय मलिन अकास।
ऊबि अवनि अकुलानी, खग मृग मरि रहे प्यास॥
कहँ सब साज सजाये, करि रहे कहँ घनघोर।
दल बादल कहँ छाये, जिहि लखि नाचत मोर॥

विकट भयंकर ग्रीसम, ऊसम तपत प्रचंड।
दहि रह्यो दस दिसि, भीसम उत्कट अतिव उदंड॥

निर्दय सतत सतावत, तापत सो महिलोक।
बिलपावत कलपावत, सब जग परि रह्यो सोक॥

तुम बिन कौन उबरि है, करि है तिनकर मान।
हरि है धीर उधरि है, हे जगजीवन प्रान॥

तुम अम्बुद जगजीवन, जीवन नाम तुम्हार।
चाहत तुव पय पीवन, जीव नवीन उदार॥

भादों हूँ असबीती, बिन जल बिन्दु अकास।
सूखी रूखी रीती, निर्धन सून्य अकास॥

जहँ अगाध जल दलदल, पुल बिन नहीं उतराव।
तहँ पैदलहि पथिक दल, चलि रहे बहु बिन नाव॥

कहुँ कहुँ कूपहु सूखे, हरे हरे झुरि गये सूख।
एक तुम्हरे भये रूखे, हमहिं सबहिं भये रूख॥

हे घन! अबहुँ न चितवहु, इत बहु विपति निहारि।
तुम सुख दिन कित बितवहु, हम कहँ दुख महँ डारि॥

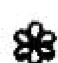
हे वारिद! नवजलधर! हे धाराधर नाम।
हे पयोद पयसुन्दर, हे अतिशय अभिराम॥

हे प्रानद आनँदघन, हे जगजीवन सार।
हे सजीव जीवन धन, हे त्रिभुवन-आधार॥

हे घनश्याम परम प्रिय, हे आनन्द घनश्याम।
मुदित करन हरि-जनहिय, हे हरि तनुज सुदाम॥

हे जगजीय जुड़ावन, भीय छुड़ावन हार।
हे बकतीय उड़ावन, हीय-बढ़ावन हार॥

हे गिरितुङ्ग शिखरचर, हे निर्भय नभयान।
हे नित नूतन तन धर, हे पवमान विमान॥
बन बन कीट पतङ्गन, घर घर तिर्यगन गान।
पुरवहु रङ्ग बिरंगन, हे बहु ढंग निधान॥
पोखर नदी तड़ागन, बागन बगियन बीच।
गैल गली घर आँगन, भरहु मचावहु कीच॥
कजरी मधुर मलारन की, धुनि पुनि सुनवाउ।
पुनि पुनि पिय बोलन, पपियन प्यास बुझाउ॥
करि कृतकृत्य किसानन, संवतसर सरसाउ।
सींचि सस्य तृन धानन, तब निज धाम सिधाउ॥
समै समै पुनि आवहु, पुनि जावहु इह रीति।
सहज सुभाग बढ़ावहु, गहि मग प्राकृत नीति॥
प्रथित प्रेम रस पागहु, पूरण प्रणय प्रतीत।
सदा सरस अनुरागहु, हे घन विनय विनीत॥

अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'

उपाध्याय जी का जन्म आजमगढ़ में पं० भोलासिंह जी उपाध्याय के यहाँ सं० १९२२ में वैशाख कृष्ण तृतीया को हुआ। आप सिद्धहस्त लेखक हैं। जैसे आप गद्य-रचना में यशस्वी लेखक हैं, वैसे ही आप पद्य-रचना में भी प्रवीण हैं। आपने आजन्म हिन्दी की सेवा की है।

उपाध्याय जी में एक बड़ी विशेषता है आप सरल से सरल और कठिन से कठिन गद्य-पद्य लिखने में कमाल करते हैं। आपको कविता का शौक बाबा सुमेरसिंह नामक एक साधु की संगति से हुआ था।

वर्तमान कवियों में आप उच्च स्थान रखते हैं। आप कई भाषाओं के अच्छे विद्वान् हैं। भाषा की कविता में मुहावरेबन्दी की बहार दिखाने में आप अपनी समता नहीं रखते। आप दिल्ली में अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य-सम्मेलन के सभापति पद को सुशोभित कर चुके हैं। आज भी आप हिन्दू विश्व-विद्यालय काशी में हिन्दी के अध्यापक हैं।

प्रेम-पुकार

प्रभो ! क्या फिर लोगे अवतार।
दूर करोगे क्या भयभंजन ! फिर भारत भुवि भार॥
क्या फिर व्यथित मथित चित होंगे सुखित मिले सुखसार।
क्या फिर सरस करोगे मानस बरस बरस रसधार॥१॥

खुलेगा क्या फिर सुख का द्वार।
क्या अपनापन रख पायेंगे फिर अपने अधिकार॥
करेंगे न क्या प्रभुता पाकर प्रभुवर ! फिर उपकार।
परम पुनीत प्रतीति प्रीति की सुन्दर नीति प्रचार॥२॥

बजाओ फिर मुरली रसमूल।
कलित ललित कर कुसुमित कानन कल कालिन्दीकूल॥
कलह विवाद कुटिलता कटुता कामुकता प्रतिकूल।
आकुलतामय लोक निचय के आकुल चित अनुकूल॥३॥

सुना दो प्रभु ! फिर अनुपम तान।
भारत के निर्जीव जनों को कर सजीवता दान॥
करो मधुर कमनीय-कण्ठ से परम अलौकिक गान।
कर महान विज्ञान ज्ञानमय पावन भाव प्रदान॥४॥

एक बार फिर प्रभो ! पधारो।
करो पूत आकर अपूत को, बहु कपूत को तारो॥
सुधा मिलित अति हितकर सुखकर रुचिकर वचन उचारो।
परम विफल जीवन कर सफलित असफल जन्म सुधारो॥५॥

प्यारे ! इतने पड़ो न रूखे।
जलद करेगा क्या जल बरसा कुम्हलाये तरु सूखे॥
क्या रह गया, हुए जगजीवन ! सकल भाँति हम खूखे।
कब तक कलपा करें कृपानिधि ! कृपाकोर के भूखे॥६॥

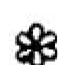
प्यारे ! आते हो तो आओ।
अपना वदनमयंक दिखाकर भारत तिमिर भगाओ॥

परम चारु गुणमयी चाँदनी छिति-तल पर छिटकाओ।
शस्यश्यामला सुजला सुफला सफला उसे बनाओ॥
कर संचार शक्ति संजीवन जीवन डाल जिलाओ।
रुचिकर हितकर प्रभो! रुचिरतर सरस सुधा बरसाओ॥७॥

शोचविमोचन! शोच हरो।
प्रभो लोकलोचन! अब लोचन खोलो विभुता वरो॥
जगजीवन! अभिनव जीवन दो भले भाव में भरो।
सकलकलामय! हरो विकलता दूर कालिमा करो॥८॥

घनतनरुचि! यह रुचि है मेरी।
बरसो रुचिकर सलिल सदयता सरसो रसमय! करो न देरी॥
बार बार कर मधुर मधुर ध्वनि करते रहो मुग्धकर फेरी।
गतिविहीन लोचन चातक को एक अगतिगति! है गति तेरी॥९॥

('पद्यप्रमोद' से)

व्रज-वर्णन

गत हुई अब थी द्वि-घटी निशा, तिमिर-पूरित थी सब मेदिनी।
अति-अनूपमता सँग थी लसी, गगन के तल तारक-मालिका॥१॥
तम ढके तरु थे दिखला रहे, तमस-पादप से जन-वृन्द को।
सकल-गोकुल गेह-समूह भी, तिमिर-निर्मित सा इस काल था॥२॥
इस तमो-मय गेह-समूह का, अति-प्रकाशित सर्व-सुकक्ष था।
विविध-ज्योति-निधान-प्रदीप थे, तिमिर-व्यापकता हरते जहाँ॥३॥
इस प्रभामय मंजुल कक्ष में, सदन की करके सिगरी क्रिया।
कथन थीं करती कुल-कामिनी, कलित-कीर्ति व्रजाधिप-तात की॥४॥
सदन सम्मुख के कल ज्योति से, ज्वलित थे जितने वर-बैठकें।
पुरुष-जाति वहाँ समवेत हो, सुगुण-वर्णन में अनुरक्त थी॥५॥

रमणि के सँग में वर-बालिका, पुरुष के सँग बालक-मण्डली।
कथन थी करती कल-कंठ से, ब्रज-विभूषण की विरुदावली ॥६॥
सब पड़ोस कहीं समवेत था, सदन के सब थे इकठे कहीं।
मिलित थे नरनारि कहीं हुए, चयन को कुसुमावलि कीर्त्ति की ॥७॥
रसवती रसना करके कहीं, कथित थी कथनीय गुणावली।
मधुर राग सधे स्वर ताल में, कलित कीर्त्ति अलापित थी कहीं ॥८॥
बज रहे मृदु-मंद मृदंग थे, ध्वनित हो उठता करताल था।
सरस-वादन बीन-विचित्र से, विपुल था मधु-वर्षण हो रहा ॥९॥
सकल-आलय से इस काल थी, निकलती लहरी कल-नाद की।
मधु-मयी अति थी सिगरी गली, ध्वनित सा सब गोकुल ग्राम था ॥१०॥
सुन पड़ी ध्वनि एक इसी घड़ी, अति-अनर्थकरी इस ग्राम में।
विपुल वादित वाद्य-विशेष से, निकलती अब जो सविराम थी ॥११॥
कर जनैक लिये इस वाद्य की, प्रथम था करता बहु ताड़ना।
फिर मुकुन्द प्रवास प्रसंग यों, कथन था करता स्वर-तार से ॥१२॥
अमित-विक्रम कंस नरेश ने, धनुष-यज्ञ विलोकन के लिये।
कल समादर से ब्रज-भूप को, कुँवर संग निमंत्रित है किया ॥१३॥
यह निमंत्रण लेकर आज ही, सुत-स्वफल्क समागत हैं हुए।
मधुपुरी कल के दिन प्रात ही, गमन भी अवधारित हो चुका ॥१४॥

('प्रियप्रवास' से)

हरि-गमन

आई बेला हरि-गमन की छा गई खिन्नता सी।
थोड़े ऊँचे नलिनपति हो जा छिपे पादपों में।
आगे सारे स्वजन करके साथ अक्रूर को ले।
धीरे धीरे सजनक कढ़े सद्म में से मुरारी ॥१॥

आते आँसू अति कठिनता साथ रोके दृगों के।
होती खिन्ना हृदय-तल के सैकड़ों संशयों से।
नाना वामा परमदुखिता संग शोकाभिभूता।
पीछे प्यारे तनय निकलीं गेह में से यशोदा ॥२॥

द्वारे आया व्रज-नृपति को देख यात्रा लिये ही।
भोला भोला निरख मुखड़ा फूल से लाड़िलों का।
खिन्ना दीना परम लखके नन्द की भामिनी को।
चिन्ता डूबी सकल जनता हो उठी कम्पमाना ॥३॥

कोई रोया नहिं जल रुका लाख रोके दृगों का।
कोई आहें सदुख भरता हो गया बावला सा।
कोई बोला—सकल-व्रज के जीवनाधार प्यारे!
यों लोगों को व्यथित करके आज जाते कहाँ हो ॥४॥

रोता होता विकल अति ही एक आभीर बूढ़ा।
दीनों के से वचन कहता, पास अक्रूर आया।
बोला—कोई जतन जन को आप ऐसा बतावें।
मेरे प्यारे कुँवर मुझसे आज न्यारे न होवें ॥५॥

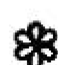
मैं बूढ़ा हूँ यदि कुछ कृपा आप चाहें दिखाना।
तो मेरी है विनय इतनी, श्याम को छोड़ जावें।
हा हा ! सारी व्रज अवनि का प्राण है लाल मेरा।
क्यों जीवेंगे हम सब उसे आप ले जायँगे जो ॥६॥

रत्नों की है नहिं कुछ कमी, आप लें रत्न ढेरों।
सोना चाँदी सहित धन भी गाड़ियों आप ले लें।
गायें ले लें गज तुरग भी आप ले लें अनेकों।
लेवें मेरे न निजधन को जोड़ता हाथ मैं हूँ ॥७॥

जो है प्यारी धरणि व्रज की यामिनी के समाना।
तो तातों के सहित सिगरे गोप हैं तारकों-से।
मेरा प्यारा कुँवर उसका एक ही चन्द्रमा है।
छा जावेगा तिमिर, वह जो दूर होगा दृगों से ॥८॥

सखा प्यारा सकल ब्रज का वंश का है उजाला।
दीनों का है परमधन औ वृद्ध का नेत्रतारा।
बालाओं का प्रिय स्वजन औ बन्धु है बालकों का।
ले जाते हैं सु-रतन कहाँ आप ऐसा हमारा ॥६॥

('प्रियप्रवास' से)

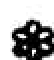
  

गोपिका-विरह

कालिन्दी के पुलिन पर थी एक-कुंजातिरम्या।
छोटे छोटे सु-द्रुम उसके मुग्धकारी बड़े थे।
अंकों में थीं लिपट लसतीं उक्त न्यारे द्रुमों के।
शोभावाली विपुल-लतिका पुष्पभारावनम्रा ॥१॥
बैठे ऊधो मुदित-चित से एकदा थे इसी में।
लीलाकारी-सलिल सरि का सामने सोहता था।
धीरे धीरे तपन-किरणें फैलती थीं दिशा में।
नाना-क्रीड़ा उमग-करती वायु थी पल्लवों से ॥२॥
आई वामा कतिपय इसी काल कूलाकंजा के।
आशाओं को ध्वनित करके पाँव के नूपुरों से।
देखी जाती इन छवि-वती-भामिनी संग में थीं।
भोली-भाली सुवदनि कई सुन्दरी बालिकाएँ ॥३॥
नीला प्यारा उदक सरि का देखके एक श्यामा।
बोली खिन्ना-विपुल बनके अन्य गोपांगना से।
कालिन्दी का पुलिन मुझको उन्मना है बनाता।
प्यारों-डूबी जलद-तन की मूर्त्ति है याद आती ॥४॥
श्यामा बातें श्रवण करके बालिका एक रोई।
रोते रोते अरुण उसके हो गये नेत्र दोनों।

ज्यों-ज्यों लज्जा-विवश वह थी रोकती वारिधारा।
त्यों-त्यों आँसू अधिकतर थे लोचनों-मध्य आते ॥५॥
ऐसा रोते निरख उसको एक मर्मज्ञ बोली।
यों रोवेगी भगिनि ! यदि तू, बात कैसे बनेगी।
कैसे तेरे युगल दृग ये ज्योति-शाली रहेंगे।
तू देखेगी वह छवि-मयी श्यामली मूर्त्ति कैसे ॥६॥
जो यों ही तू बहु व्यथित हो दग्ध होती रहेगी।
तेरे सूखे कृशित तन में प्राण कैसे रहेंगे।
प्यारा-प्यारा मुदित मुखड़ा जो न तू देख लेगी।
तो वे होंगे सुखित न कभी स्वर्ग में भी सिधा के ॥७॥
मर्मज्ञा का कथन सुनके सुन्दरी एक बोली।
तू रोने दे अयि मम-सखी ! खेदिता-बालिका को।
जो बालाएँ विरह-दव में दग्धिता हो रही हैं।
आँखों का ही उदक उनकी शान्ति की ओषधी है ॥८॥
बाष्पों-द्वारा बहु-विध-दुखों वर्द्धिता-वेदना के।
बालाओं का हृदय-नभ जो है समाच्छन्न होता।
तो निर्द्धूता तनिक उसकी म्लानता है न होती।
पर्जन्यों लौं न यदि बरसें वारि हो, वे दृगों से ॥९॥
प्यारी बातें श्रवण जिसने की किसी काल में थीं।
न्यारा-प्यारा बदन जिसने था कभी देख पाया।
वे होती हैं बहु व्यथित जो श्याम हैं याद आते।
क्यों रोवेगी न वह जिसके जीवनाधार वे हैं ॥१०॥

('प्रियप्रवास' से)

भक्ति

विश्वात्मा जो परम-प्रभु है रूप तो हैं उसी के।
सारे प्राणी सरि गिरि लता बेलियाँ वृक्ष नाना।

रक्षा पूजा उचित उनका यत्न सम्मान सेवा।
भावों-सिक्ता परम-प्रभु की भक्ति सर्वोत्तमा है ।।१।।
जी से बातें सकल सुनना आर्त्त-उत्पीड़ितों की।
रोगी प्राणी व्यथित जन की लोक-उन्नायकों की।
सच्छास्त्रों का श्रवण, सुनना वाक्य सत्संगियों का।
मानी जाती श्रवण-अभिधा-भक्ति है सज्जनों में ।।२।।
सोये जागें, तम-पतित की दृष्टि में ज्योति आवे।
भूले आवें सु-पथ पर औ ज्ञान उन्मेष होवे।
ऐसे गाना कथन करना दिव्य न्यारे गुणों का।
है प्यारी भक्ति प्रभुवर की कीर्त्तनोपाधिवाली ।।३।।
विद्वानों के स्व-गुरु-जन के देश के प्रेमिकों के।
ज्ञानी दानी सु-चरित गुणीराज-तेजीयसों के।
आत्मोत्सर्गी विबुध-जन के देव-सद्विग्रहों के।
आगे होना नमित प्रभु की भक्ति है वन्दनाख्या ।।४।।
जो बातें हैं भव-हित-करी सर्व-भूतोपकारी।
जो चेष्टाएँ मलिन-गिरती जातियाँ हैं उठाती।
हाथों-बाँधे सतत उनके अर्थ उत्सर्ग होना।
विश्वात्मा भक्ति भव सुखदा दासता संज्ञका है ।।५।।
कंगालों की विवश विधवा औ अनाथाश्रितों की।
उद्विग्नों की सुरति करना औ उन्हें त्राण देना।
सत्कार्यों का विविध पर की पीर का ध्यान आना।
भाखी जाती स्मरण अभिधा भक्ति है भावुकों में ।।६।।

('प्रियप्रवास' से)

कमनीय कामना

कर दे सरस वसंत मलय मारुत आमोदित।
कोकिल पुलकित विपुल मंजरी परम प्रमोदित ।।

लोचन को सुख निलय कलित किसलय कर लेवे।
विकच कुसुम चय प्रचुर विकचता चित को देवे॥
मानस में रसिक-समूह के दे रस अति रमणीय भर।
सरसित विकसित विलसित लता फलित पल्लवित तरुनिकर॥१॥

हो गुलाल से लाल वदन लालिमा बढ़ावें।
खेल-खेलकर रंग जाति-रंग में रँग जावें॥
चला कुमकुमे चलें कुमक ले हित चावों से।
भर अबीर से भरें वीरता के भावों से॥
मिल सुमति मानवी से गले कुमति दानवी को दहें।
रज से आरंजित भाल कर देश-राग-रंजित रहें॥२॥

('पद्यप्रमोद' से)

एक तिनका

मैं घमंडों में भरा ऐंठा हुआ, एक दिन जब था मुँडेरे पर खड़ा।
आ अचानक दूर से उड़ता हुआ, एक तिनका आँख में मेरी पड़ा॥१॥
मैं झिझक उट्ठा हुआ बे-चैन सा, लाल होकर आँख भी दुखने लगी।
मूँठ देने लोग कपड़े की लगे, ऐंठ बेचारी दबे पाँवों भगी॥२॥
जब किसी ढब से निकल तिनका गया, तब 'समझ' ने यों मुझे ताने दिये।
ऐंठता तू किसलिये इतना रहा, एक तिनका है बहुत तेरे लिये॥३॥

('पद्यप्रमोद' से)

सुप्रभात

क्या न होगी तमोमयी निशा तिरोहित ?
क्या न होगा तमीचरवृन्द तेजोहत ?
असित ककुभ अब क्या न होगा सित ?
भैरव उलूक-रव क्या होगा सतत ? ॥१॥
क्या न होगा नव-राग-रञ्जित गान ?
क्या न होगा गौरवित उषादेवी-गात ?

क्या न होगी प्रभाकर-प्रभुता प्रकट ?
प्रभो ! क्या न होगा प्रभामय सुप्रभात ? ॥२॥

कुछ उलटी सीधी बातें

जला सब तेल दीया बुझ गया है अब जलेगा क्या।
बना जब पेड़ उकठा काठ तब फूले फलेगा क्या ॥१॥
रहा जिसमें न दम जिसके लहू पर पड़ गया पाला।
उसे पिटना पछड़ना ठोकरें खाना खलेगा क्या ॥२॥
भले ही बेटियाँ बहनें लुटें बरबाद हों बिगड़ें।
कलेजा जब कि पत्थर बन गया है तब गलेगा क्या ॥३॥
चलेंगे चाल मनमानी बनी बातें बिगाड़ेंगे।
जो हैं चिकने घड़े उन पर किसी का बस चलेगा क्या ॥४॥
जिसे कहते नहीं अच्छा उसी पर हैं गिरे पड़ते।
भला कोई कहीं इस भाँत अपने को छलेगा क्या ॥५॥
न जिसने घर सँभाला देश को क्या वह सँभालेगा।
न जो मक्खी उड़ा पाता है वह पंखा झलेगा क्या ॥६॥
मरेंगे या करेंगे काम यह जी में ठना जिसके।
गिरे सर पर न बिजली क्यों जगह से वह टलेगा क्या ॥७॥
नहीं कठिनाइयों में वीर लौं कायर ठहर पाते।
सुहागा आँच खाकर काँच के ऐसा ढलेगा क्या ॥८॥
रहेगा रस नहीं खो गाँठ का पूरी हँसी होगी।
भला कोई पयालों को कतर घी में तलेगा क्या ॥९॥
गया सौ-सौ तरह से जो कसा कसना उसे कैसा।
दली बीनी बनाई दाल को कोई दलेगा क्या ॥१०॥
भला क्यों छोड़ देगा मिल सकेगा जो वही लेगा।
जिसे बस एक लेने की पड़ी है वह न लेगा क्या ॥११॥
सगों के जो न आया काम करेगा जाति-हित वह क्या।
न जिससे पल सका कुनबा नगर उससे पलेगा क्या ॥१२॥

रँगा जो रंग में उसके बना जो धूल पाँवों की।
रँगेगा वह वसन क्यों राख तन पर वह मलेगा क्या ॥१३॥
करेगा काम धीरा कर सकेगा कुछ न बातूनी।
पलों में खर बुझेगा काठ के ऐसा बलेगा क्या ॥१४॥
न आँखों में बसा जो क्या भला मन में बसेगा वह।
न दरिया में हला जो वह समुन्दर में हलेगा क्या ॥१५॥

जन्म-भूमि

सुरसरि सी सरि है कहाँ मेरु सुमेरु समान।
जन्म-भूमि सी भू नहीं भूमण्डल में आन ॥१॥
प्रतिदिन पूजें भाव से चढ़ा भक्ति के फूल।
नहीं जन्म भर हम सकें जन्मभूमि को भूल ॥२॥
पग-सेवा है जननि की जन-जीवन का सार।
मिले राजपद भी रहे जन्मभूमि रज प्यार ॥३॥
आजीवन उसको गिनें सकल अवनि सिरमौर।
जन्मभूमि जलजात के बने रहें जन भौंर ॥४॥
कौन नहीं है पूजता कर गौरव गुण-गान।
जननी जननी-जनक की जन्मभूमि को जान ॥५॥
उपजाती है फूल फल जन्मभूमि की खेह।
सुख-संचन-रत छवि-सदन दे कंचन सी देह ॥६॥
उसके हित में ही लगे है जिससे वह जात।
जन्म सफल हो वार कर जन्मभूमि पर गात ॥७॥
योगी बन उसके लिये हम साधें सब योग।
सब भोगों से हैं भले जन्मभूमि के भोग ॥८॥
फलद कल्पतरु-तुल्य हैं सारे विटप बबूल।
हरि-पद-रज सी पूत है जन्म-धरा की धूल ॥९॥
जन्मभूमि में हैं सकल सुख सुषमा समवेत।
अनुपम रत्न समेत है मानव रत्न निकेत ॥१०॥

राय देवीप्रसाद 'पूर्ण'

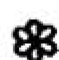
'पूर्ण' कवि कानपुर जिले के भदस ग्राम के रहने वाले थे। आपका जन्म सं० १९२५ में हुआ था। आप जाति के कायस्थ थे। आप आचरण और विद्वत्ता में ब्राह्मणों से भी बढ़कर थे। वेदान्त आपका प्रिय विषय था। आप देशभक्त, स्पष्टवादी और धर्मपरायण व्यक्ति थे, साथ ही हास्यप्रिय और विनोदी भी थे।

आपकी कविताओं में जहाँ प्राकृतिक सौन्दर्य, देश-भक्ति और समाज-सुधार की अच्छी झलक है, वहाँ विश्व-बन्धुत्व की भी स्पष्ट छाप है। आत्मा और परमात्मा के सम्बन्ध की कल्पनाएँ आपकी रचना में स्पष्ट दृष्टिगोचर होती हैं।

आप लन्दन की रायल एशियाटिक सोसायटी के सदस्य थे।

ईश्वर-महिमा

तिहारे को बरनै गुन-जाल।
जासु अकथ महिमा वर दीसत दस दिसि तीनहुँ काल ॥
अगनित रचे चन्द्र ग्रह तारे निराधार जे नभ बिच न्यारे।
द्वै विधि अद्भुत शक्ति सहारे करत प्रमानी चाल ॥
कौन वसत पुनि तिन लोकन में कौन प्रकार कौन रूपन में।
तिल तिल अखिल चरित चिन्तन में थकति बुद्धि तत्काल ॥
तोहि अनादि अनन्त विचारत ध्यान अपार गगन को धारत।
तुव जिसको अनुमात्र उचारत मति उरझति भ्रमजाल ॥
चींटी, मीन, विहंग, नर, हाथी, जीव, अमित जग अगनित जाती।
सिरजि पाल मारत केहि भाँती धन्य अखिल रखवाल ॥
कानन शैल विशाल बनावैं कुसुमित हरित छटा सरसावैं।
प्रति तरुवर प्रभुता दरसावैं पान फूल जड़ डाल ॥
सूक्ष्म वस्तु जो लखि न जावैं सोऊ रुचि अतिरुचिर बनावैं।
रंग विचित्र लखै बनि आवै धन्य सुकला विशाल ॥
मात-उदर में पिण्ड बनावत दै आकार जीव जन्मावत।
ज्याय पाल पुनि मार नसावत जानो जात न हाल ॥
प्रानी जात कहाँ तन त्यागी पिता सुतादि रोवत जेहि लागी।
झेलत दीन अजान अभागी महा दुःख जंजाल ॥
प्राननाथ पूरन अविनाशी क्षमाशील सुन्दर सुखराशी।
श्रीसच्चिदानन्द अविनाशी जय जय विश्वभुवाल ॥

पंचवटी-शोभा

हरे हरे लहलहे विपुल द्रुम वृंद-वृंद वन सोहैं।
लोनी-लतिका-कलित ललित फल चलित लेत मन मोहैं ॥

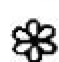
लाले पीरे सेत बैंजने सुमन सुहावन फूले।
गुंजगान करि चंचरीक मकरंद-पान में भूले॥
केकी कीर कपोत कोकिला चातक कोक चकोरा।
मैना, लवा, लालमुनिया वर बहु विहंग चहुँ ओरा॥
विविध रँगीले भेस छबीले अमित मधुर सुर छावैं।
नाचैं उड़ैं चुगैं छकि विहरैं सहज हियो हुलसावैं॥
गोदावरी समीप विराजैं सुठि सरोज सर भावैं।
लगत पवन सम हरन सुगन्धित मन प्रसन्न ह्वै जावैं॥
पावन परम रम्य कानन के साज अनूप निहारे।
आनँदबस ह्वै सुरवृन्दन सत नन्दन-वन वारे॥

वर्षा का आगमन

सुखद सीतल सुचि सुगन्धित पवन लागी बहन।
सलिल बरसन लगो, वसुधा लगी सुखमा लहन॥
लहलही लहरान लागीं सुमन बेलि मृदुल।
हरित कुसुमित लगे भूमन वृच्छ मंजुल विपुल॥१॥
हरित मनि के रंग लागी भूमि मन को हरन।
लसति इन्द्रवधून अवलि छटा मानिक बरन॥
विमल बगुलन पाँति मानहुँ विसाल मुक्तावली।
चन्द्रहास समान चमकति चञ्चला त्यों भली॥२॥
नीर नीरद सुभग सुरधनु बलित सोभाधाम।
लसत मनु वनमाल धारे ललित श्रीघनस्याम॥
कूप कुण्ड गँभीर सरवर नीर लाग्यो भरन।
नदी नद उफनान लागे लगे झरना झरन॥३॥
रटत दादुर त्रिविध लागे रुचन चातक वचन।
कूक छावत मुदित कानन लगे केकी नचन॥
मेघ गर्जत मनहुँ पावस भूप को दल सकल।
विजय दुन्दुभि हनत जग में छीनि ग्रीसम अमल॥४॥

विश्व-वैचित्र्य

शंकर की कैसी माया है।
दिन है कहीं कहीं है रजनी, कहीं धूप कहिं छाया है।
सूरज तारे घने चन्द्रमा सुन्दर विश्व बनाया है॥
वन उपवन सब सुमन वाटिका साज अजब दरसाया है।
नदी सरोवर झील समुन्दर जल का कोष सजाया है॥
हरियाली के रचे गलीचे गगन वितान तनाया है।
रंग-रूप का ताना बाना 'पूरन' जगत दिखाया है॥

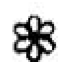
अधम तेरो जीवन बीत्यो जाय।
आया था करि भजन-प्रतिज्ञा भूलि गया सो हाय!
अभयदान को हाथ मिले ये, तीर्थ-गमन को पाय।
हिंसा करै गहै परनारी चलै सुपन्थ विहाय॥
शुभ दर्शन अरु चरितश्रवण को नयन श्रवण ये पाय।
देखै सुनै पाप की बातैं विषयों में चित लाय॥
यह रसना हरिनाम जपन को मुरदा ता ते खाय।
छल निन्दा चोरी की बातैं करते निश-दिन जाय॥
'पूरन' अभी बना है अवसर कर ले वेगि उपाय।
कर दे प्रभु के हेतु समर्पण मन वाणी अरु काय॥

विनय

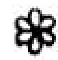
धन दीजै विपुल अतुल जस मान दीजै,
संगति प्रदान कीजै सन्तन उदारन में।
संतति सुशील दीजै संपति अशेष दीजै,
सुरुचि विशेष दीजै नीति अनुसारन में।

देह-सुख गेह-सुख निज-पद-नेह दीजै,
रीझिये दयाल ! दीन विनती उचारन में।
पतित उधारन ! हा करुना-जलधि नाथ !
बार क्यों लगाई मेरी विपति-विदारन में॥

लक्ष्मी

सम्पत्करी सर्व-व्यथा-हरी है, तेजःकरी भूरियशःकरी है।
लोकेश्वरी देवगणेश्वरी है, अन्नेश्वरी प्राणधनेश्वरी है॥
देवेन्द्र के लोक प्रभास तेरो, यक्षेन्द्र के ओक विभास तेरो।
साकेत-कैलास-निवास तेरो, श्रीविष्णु के पास विलास तेरो॥
अज्ञान को तू रवि-मालिका है, विपत्ति को काल-करालिका है।
दया-समुद्रा जन-पालिका है, अनूप माता जल-बालिका है॥
विद्यावती है गरिमावती है, प्रज्ञावती है महिमावती है।
तू शंकरी है अरु भारती है, प्रभावती है प्रतिभावती है॥
व्यापार-वीथी बिच तू उजेरी, संसार-खेती बिच तू हरेरी।
उद्योग उद्यान वसन्त तू है, दिगन्त में सार अनन्त तू है॥
वसन्त में पुष्प ललाम तू है, वर्षाविहारी घनश्याम तू है।
हेमन्त में चारु तुषार तू है, संसार-सत्ता अरु सार तू है॥
तू मंगला मंगलकारिणी है, सद्भक्त के धाम विहारिणी है।
माता सदा पूर्णपिता-समेता, कीजै हमारे चित में निकेता॥
तू अम्ब ! मोपै अनुकूल जो है, संसार में तो प्रतिकूल को है।
आदित्यवर्णी वर विश्वरानी, मैं तोहिं वंदौं मन-काय-बानी॥
श्री वासवी की जय माधवी की, सुमालिनी की वनमालिनी की।
सुरोत्तमा की सु-मनोरमा की, त्रिलोक-मा की अखिलोपमा की॥

रामचरित उपाध्याय

आपका जन्मसंवत् १९२९ कार्त्तिक कृष्ण चतुर्थी को गाजीपुर में हुआ था। महामहोपाध्याय पं० शिवकुमार शास्त्री आपके विद्या-गुरु थे। उपाध्याय जी के जिले में रामचरित त्रिपाठी नामक एक कवि रहते थे। बस, इन्हीं के नामसाम्य से आपकी रुचि कविता की ओर हुई।

आप देशप्रेमी कवि थे। देव-दूत, देव-सभा इसका सुस्पष्ट प्रमाण है। आपकी खड़ी बोली की कविताएँ अत्यन्त सरस और सरल हैं। समाज-सुधार की भी झलक आपकी कविता में मिलती है। 'रामचरित-चिन्तामणि' आपका सुन्दर काव्य है।

गत वर्ष आप इस लोक का परित्याग कर गोलोकवासी हो गये हैं।

प्रभात-जागरण

शिशुत्व चारों शिशु तात-गेह में,
लगे दिखाने, जकड़े सनेह में।
प्रमोद पातीं नृप-रानियाँ जिसे,
विलोक के, पुत्र न सौख्य दे किसे ॥१॥
उठे नहीं राम कभी प्रभात में,
उठे रहे बन्धु सभी प्रभात में।
स्वयं जगाने जननी उन्हें गई,
खिली मनो चम्पक की कली नई ॥२॥
तुरन्त बोली वह नम्रता लिये,
प्रमोद से अञ्जलि प्रेम की किये।
जगो जगो हे सुत! नेत्र खोल दो,
सुधासने-से 'जय देश' बोल दो ॥३॥
नभोऽङ्क में तारक-वृन्द खो गया,
निशेश भी तेज-विहीन हो गया।
मनोहरा, मोदमयी हुई दिशा,
उठो उठो राम! रही नहीं निशा ॥४॥
ललाम है पूर्व-दिशस्थ लालिमा,
परन्तु है पश्चिम भाग कालिमा।
विलोकिए कौतुक है बड़ा भला,
उठो उठो राम! प्रभात हो चला ॥५॥
दिनेश आना अब चाहता यहाँ,
सरोज-संघात विकाश पा रहा।
उठो, उठो राम! तमोऽवसान है,
प्रमाद-सेवा दुख का निधान है ॥६॥
न चन्द्रमा नष्ट हुआ समग्र है,
तमो-निहन्ता दिननाथ व्यग्र है।

यही घड़ी है सुख-सिद्धि के लिए,
उठो, उठो राम! स्व-सिद्धि के लिए ॥७॥
शशी कलङ्की गिरता न क्यों कहो,
घमण्डियों का अवसान क्यों न हो।
इसी लिए आज जगा रही तुम्हें,
स्वधर्म में राम! लगा रही तुम्हें ॥८॥
निशान्त के साथ निशेश भी चला,
मनो मही के शिर से टली बला।
दिखा रही है वह क्या छटा भली,
उठो उठो राम! मधुव्रतावली ॥९॥
द्विरेफ गाके जग को जगा रहे,
सुकर्म में हैं सब को लगा रहे।
न चूकिए राम! परार्थ के लिए,
स्वबन्धुओं को उठ मोद दीजिए ॥१०॥
दिखा रहा है शिशु-सूर्य धाम को,
मिटा रहा है तम-शत्रु-नाम को।
विलोलता है जग में बड़ी कड़ी,
चली गई राम! विराम की घड़ी ॥११॥
स्ववंश का ज्ञान जिसे बना रहे,
भला कभी क्यों वह दुःख को सहे।
न भूल जाना तुम हंस-वंश हो,
जगो दुलारे! जगदीश-अंश हो ॥१२॥
मिली हुई भी उसकी न है रमा,
जिसे प्रिया है रिपु के लिए क्षमा।
शशी इसी से सब भाँति दीन है,
सुखाप्ति भैया! बल के अधीन है ॥१३॥
मनुष्य जो व्यर्थ प्रमाद लिप्त है,
स्ववृद्धि ही से अथवा सुतृप्त है।

कभी गिरेगा वह सोम सा सही,
सुनो उठो राम ! विधेय है यही ॥१४॥
विवेक से विक्रम से विहीन हो,
अधर्म के आलस के अधीन हो।
विनष्ट जो हैं, उनसे न बोलिए,
सुना न? हे राम ! दृगाब्ज खोलिए॥१५॥
स्वगेह ही में नर जो न तुष्ट हो,
कभी विधाता उससे न रुष्ट हो।
पड़े हुए हो किसके विचार में ?
उठो, लगो राम ! परोपकार में॥१६॥
अभिन्न है प्राकृत कर्म भाग्य से,
छिपी नहीं है यह बात प्राज्ञ से।
स्वदेश-सेवा-व्रत से नहीं भगो,
उठो उठो राम ! सुकर्म में लगो ॥१७॥
चला गया जो क्षण आप है अभी,
नहीं मिलेगा वह स्वप्न में कभी।
स्वधर्म के ऊपर ध्यान दीजिए,
विनिद्र हो राम ! न देर कीजिए ॥१८॥
नरेश हो या अमरेश हो हरे !
निरुद्यमी हो यदि सौख्य को करे।
निपात होगा उसका अवश्य ही,
अरे शिशो ! आँख खुली अभी नहीं॥१९॥
प्रभावशाली कुल के दिनेश हो,
नरेश के बालक हो, परेश हो।
करो जरा राम ! स्ववंश-नाम को,
उठो, सँभालो निज काम धाम को॥२०॥
जिसे सिखाते तुम थे, तुम्हें वही,
सिखा रही है, पर होश है नहीं।

उठो, दिखा दो कुछ कार्य तो नया,
सुकार्य का राम! मुहूर्त आ गया ॥२१॥
('रामचरितचिन्तामणि' से)

धनुष-भंग

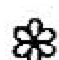
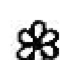
ज्यों वृषपति का परुष धनुष तोड़ा रघुपति ने।
समाचार यह सुना किसी से त्यों भृगुपति ने ॥
हो जावे ज्यों प्रकट वीररस अद्भुतरस में।
त्यों प्रकटे भृगुनाथ वहाँ, हो रुष के वश में ॥
हरधनुष देख खण्डित पड़ा, बड़ा खेद उनको हुआ।
उनके तन-तेज़-प्रभाव से स्वेद नहीं किसको हुआ ॥१॥

कड़क, कूद कर, तुरत खड़े होकर वे बोले।
कमल-दलों पर मनो अचानक बरसे ओले ॥
भूप-वृन्द यह, जनक! यहाँ पर कैसे आया?
किसने हर-कोदण्ड तोड़कर यहाँ गिराया?
क्यों कुछ उत्तर देता नहीं? व्यर्थ बना तू सन्त है।
क्या परशुराम के हाथ से आज विश्व का अन्त है ॥२॥

क्यों होकर वर विज्ञ, अज्ञ का काम किया है।
क्यों अपना प्रिय माथ व्यर्थ मम हाथ दिया है ॥
मेरे रहते जनक! विपत्ती मम न रहेगा।
रवि के रहते कहीं तनिक भी तम न रहेगा ॥
हर-धनु खण्डित कर काल भी, मूढ़! नहीं बच जायगा।
उसका भी मम रोषाग्नि से गूढ़ गर्व पच जायगा ॥३॥

इस अकार्य में योग दिया भी होगा जिसने।
या सगर्व यह पाप किया भी होगा जिसने ॥
या जिसने यह देख लिया हर-धनु का खण्डन।
अभी करूँगा देख, उसी के हनु का खण्डन ॥

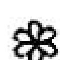
शठ ! शीघ्र बता उसको अभी, किसने धनु खण्डन किया।
तो परशुराम मैं हूँ नहीं यदि उसको दण्ड न दिया ॥४॥
परशुराम के हाथ राम अब नहीं बचेंगे।
जनक जानकी हेतु दूसरा यज्ञ करेंगे॥
तब मैं आकर जनकनन्दिनी को ले लूँगा।
आज बैठकर यहाँ व्यर्थ निज प्राण न दूँगा॥
यों ही कह कह सब नृप गये हर्षित निज निज गेह को।
अवलोक सभा में खलबली चिन्ता हुई विदेह को ॥५॥
किया महा रस भंग सभा में परशुराम ने।
हँसकर देखा उसे कहा कुछ नहीं राम ने॥
परशुराम के वचन, किन्तु सह सके न लक्ष्मण।
हो करके अति क्रुद्ध कड़ककर बोले तत्क्षण॥
भूदेव वीर होते नहीं व्यर्थ बात बकिए नहीं।
मुनि ! अपनी ही क्रोधाग्नि में व्यर्थ आप पकिए नहीं ॥६॥
विप्र वही है, ठीक विनय से भरा रहे जो।
कुलिश-कठिन कटु वचन किसी को नहीं कहे जो॥
शम-दम-संयम-नियम-शील का भी सागर हो।
दया-धर्म-संतोषसहित जो नय-नागर हो॥
हम क्षात्र धर्म हैं जानते, शस्त्र नहीं दिखलाइए।
निज कर्म कीजिए, विप्रवर ! शास्त्र हमें सिखलाइए ॥७॥

भारतीय मैं हूँ, भारत है दुखी, सुखी मैं क्यों होऊँ।
सुख-समाज में समासीन हो, कैसे मैं दुखड़ा रोऊँ॥
पुण्य विशेष शेष है मेरा होता है निःशेष नहीं।
मिले निदेश देश पर जाऊँ, रुचता है परदेश नहीं ॥१॥
स्वर्गलोक-सम सुखद अन्य क्या लोक कहीं मिल सकता है।
कनक कमल क्या मानस सर से अलग कहीं खिल सकता है ?

तो भी अपने प्रिय भारत सा सपने में यह स्वर्ग नहीं।
देश-विरह का क्लेश जिसे है, उसे यहाँ सुख-लेश नहीं ॥२॥
गोरे काले में अन्तर भी प्रभो ! निरन्तर रहना है।
रहता है निःशंक दस्यु-दल, दुःख आर्यगण सहना है॥
काले को यदि गोरा मारे, दण्ड मिलेगा उसे नहीं।
यह अनीति की रीति जगत में खल सकती है किसे नहीं ॥३॥
जिस उद्यम को करके काला आठ रुपैया पाता है।
उसी कार्य को करके गोरा साठ रुपैया पाता है॥
यदि इसको हम न्याय कहें तो फिर किसको अन्याय कहें।
सहे कहाँ तक देवो ! भारत, दीन-दुखी क्यों मौन रहे ॥४॥

('देवसभा' से)

जाने कब तक मुझे कर्मवश मिले यहाँ से छुटकारा।
प्रभु जाने, क्या भोग रहा है हा ! मेरा भारत प्यारा॥
क्या मेरे सन्देश उसे तुम जाकर देव ! सुनाओगे।
मेरा ही उपकार न होगा, तुम भी दृग-फल पाओगे ॥१॥
सच कहता हूँ, भरत-भूमि के ग्राम-तुल्य है स्वर्ग नहीं।
मुझे मिले साकेत-रेणु यदि भले मिले अपवर्ग नहीं॥
यदि तुम भारत में जाओगे शीघ्र नहीं फिर आओगे।
यदि मेरे कारण आओगे पुनः शीघ्र ही जाओगे ॥२॥

('देवदूत' से)

विधि-विडम्बना

सरसता-सरिता-जयिनी जहाँ, नवनवा नवनीत पदावली।
तदपि हा ! वह भाग्यविहीन की, सुकविता कवि-तापकरी हुई ॥१॥
जनम से पहिले विधि ने दिये, रजत, राज्य, रथादि तुम्हें स्वयम्।
तदपि क्यों उसको न सराहते, मचलते चलते तुम हो वृथा ॥२॥

पतन निश्चित है जिसका हुआ, हठ उसे प्रिय है निज देह से।
अटल है उसकी विधि-वामता, विनय से नय से घटती नहीं ॥३॥
तनिक चिन्तित हो मत तू कभी, मिट नहीं सकती भवितव्यता।
सुकृत रक्षक है सब का सदा, भवन में वन में मन! मान जा ॥४॥
महिमता जिसकी अवलोक के, अनिश निन्दक है खल-मण्डली।
सुयश क्या उसका जग में नहीं, धवल है, वल है यदि दैव का ॥५॥
हृदय! सुस्थिर होकर देख तू, नियति का बल केवल है जिसे।
कठिन कण्टक-मार्ग उसे सदा, सुगम है, गम है करना वृथा ॥६॥
दुखित हैं धनहीन, धनी सुखी, यह विचार परिष्कृत है यदि।
मन! युधिष्ठिर को फिर क्यों हुई, त्रिभवता भव-तापविधायिनी ॥७॥
शत सहस्र गुणान्वित हैं यहाँ, विविध-शास्त्र-विशारद हैं पड़े।
हृदय! क्यों उनमें फिर एक दो, सुकृत से कृत-सेवक लोक हैं ॥८॥
जनन का मरना परिणाम है, मरण ही न मिले, फिर देह क्यों।
मन! बली विधि की करतूत से, पतन का तन का चिर-संग है ॥९॥
मन! रमा, रमणी, रमणीयता, मिल गई यदि ये विधि-योग से।
पर जिसे न मिली कविता-सुधा, रसिकता सिकता-सम है उसे ॥१०॥
अयश है मिलता अपभाग्य से, तदपि तू डर कुत्सित कर्म से।
हृदय! देख, कलङ्कित विश्व में, त्रिबुध भी बुध भी विधु-से हुए ॥११॥
स्मरण तू रखना गत-शोक हो, मरण निश्चित है, मन! दैव के।
नियम से यम के बन जायँगे, कवल ही बल-हीन बली सभी ॥१२॥
अमर हो तुम जीव! सहर्ष हो, कमर बाँध सहो निज भाग्य को।
समर है करना पर काल से, दम नहीं मन ही मन में भरो ॥१३॥
सुविध से विध से यदि है मिली, रसवती सरसीव सरस्वती।
मन! तदा तुझको अमरत्वदा, भव-सुधा वसुधा पर ही मिली ॥१४॥
चतुर है चतुरानन सा वही, सुभग भाग्य-विभूषित भाल है।
मन! जिसे मन में पर काव्य की, रुचिरता चिरतापकरी न हो ॥१५॥

❀ ❀ ❀

रामनरेश त्रिपाठी

त्रिपाठी जी कोहरीपुर जिला जौनपुर के रहने वाले हैं। आपका जन्म संवत् १९४६ विक्रमी में हुआ था। आप सिद्धहस्त लेखक हैं। 'मिलन' 'पथिक' 'स्वप्न' आदि काव्यों से कवि-समाज में आपको अच्छा मान मिला है।

आपके ही सम्पादकत्व में 'कविता-कौमुदी' जैसा अनेक भागों वाला उत्कृष्ट ग्रन्थ प्रकाशित हुआ और हो रहा है। इससे हमारे हिन्दी-साहित्य को जैसी अनुपम सहायता मिली है, सहृदय पाठक एवं स्वाध्यायनिरत जन स्वयं ही इसका निर्णय कर सकते हैं।

आपकी कविता भावमयी होती है। शैली बड़ी मनोहर है। आपने गद्य में भी कई छोटी-मोटी पुस्तकें लिखकर बाल-साहित्य को यथेष्ट उन्नत किया है। आजकल आप हिन्दी-मन्दिर प्रयाग के स्वामी हैं, ऊँचे दर्जे के प्रकाशक हैं। मन्दिर की इस उन्नति का श्रेय आपको ही है।

पश्चात्ताप

सर के कपोल के उजाले में दिवस, रात
केशों के अँधेरे में निकल भागी पास से।
संध्या बालपन की, युवापन की आधी रात
मैंने काट डाली क्षणभंगुर विलास से॥
श्वेत केश झलके प्रभात की किरन-से तो
आँखें खुलीं काल के कुटिल मंदहास से।
मेरे करुणानिधि का आसन गरम होगा
कौन जाने कब मेरे शीतल उसास से॥

रहस्य

वह कौन-सी है छवि खोजता जिसे है रवि,
प्रतिदिन भेज दल अमित किरन का।
वह कौन-सा है गान, जिससे लगाये कान
गिरि चुपचाप खड़े ज्ञान भूल तन का॥
कौन-सा सँदेशा पौन लहता प्रसून से है,
खिल उठता है मुख जिससे सुमन का।
कौन-से रसिक को रिझाती है सुनाके गान,
कौन जानता है भेद कोयल के मन का॥

कहानी

आँख मूँदिए तो निज घर की मिलेगी राह,
आँख खुलते ही जग स्वप्न है विरह का।
मन खोइए तो कुछ पाइए अनोखा धन,
हानि में है लाभ यह अजब तरह का॥
आँख लगते ही फिर आँख लगती ही नहीं,
सुख है विचित्र इस घर के कलह का।

काल की कही हुई कहानी है जगत यह,
मनुज इसी में रहता है नित वहका ॥

आशा

जीवन है आशा और मरण निराशा
यह आशा की जगत में विचित्र परिभाषा है।
आशा-वश भक्ति भाव ध्यान जप योग व्रत
आशा-वश जग की समस्त अभिलाषा है ॥
आशा-वश घोर अपमान सहके भी नर
बोलता विहँसके सुधा सी मृदु भाषा है।
आशा-वश जो हैं, वे हैं जग के तमाशा
आशा जिनको नहीं है, उन्हें जगही तमाशा है ॥

सुविचार

दुख से दग्ध ताप से पीड़ित चिन्ता से मूर्च्छित मन से कृश।
श्रम से शिथिल मृत्यु से शंकित विभ्रम-वश कर पान विषय-विष ॥
जग-प्रपंच की घोर दुपहरी मेरे पथिक ! प्यास से विह्वल।
भक्ति-नदी में क्यों न नहाकर कर लेता है जीवन शीतल ॥
इसी तरह की अमित कल्पना के प्रवाह में मैं निशिवासर।
बहता रहता हूँ विमोह-वश नहीं पहुँचता कहीं तीर पर ॥
रात दिवस की बूँदों-द्वारा तन-घट से परिमित यौवन-जल।
है निकला जा रहा निरंतर यह रुक सकता नहीं एक पल ॥
भोग नहीं सकता हूँ गृह-सुख भूल नहीं सकता हूँ पर-दुख।
आकर्मण्यता से डरता हूँ जाता हूँ जब हरि के सम्मुख ॥
जीवन का उपयोग न निश्चित कर पाया दुविधा-वश अब तक।
यौवन विफल जा रहा है यह जैसे शून्य-सदन में दीपक ॥
सुनता हूँ यह मनुज-देह है इस रचना में अंतिम अवसर।
सेवा करके व्यथित विश्व की मैं तर सकता हूँ भव-सागर ॥

पर जो विविध वासनाएँ हैं जग में जो हैं अमित प्रलोभन।
इनसे जग रचने वाले का है क्या कोई भिन्न प्रयोजन ?
पर-पद-दलित, पर-मुखापेक्षी, पराधीन, परतंत्र, पराजित।
होकर कहीं आर्य जीते हैं ? पामर, पशु-सम, पतित, पराश्रित ॥
तुम्हीं देश-आशा-स्थल हो तुम्हीं शक्ति-सम्पदा तुम्हीं सुख।
जर्जर होकर भी जीवित है देश तुम्हारा देख देख मुख ॥

कर्तव्योपदेश

(१)

मध्य निशा, निर्मल निरभ्र नभ, दिशा विराव-विहीना।
विलसित था अम्बर के उर पर अद्भुत एक नगीना ॥
उसकी विशद प्रभा सर, निर्झर, तृण, लतिका, द्रुम, दल में।
करती थी विश्राम परम अभिराम निशीथ-कमल में ॥

(२)

या अनन्त के वातायन से स्वर्गिक विपुल विमलता।
झलक रही थी धरा-धाम को धो-सी रही धवलता ॥
सुख की निद्रा में निमग्न था एक एक तृण वन का।
था बस, सुखद सुशीतल सन् सन् मंद प्रवाह पवन का।

(३)

या निर्भय कर्त्तव्य-परायण वीर प्रभावित स्वर से।
सिन्धु-सन्तरी गरज रहा था अगणित ऊर्मि-अधर से ॥
चञ्चल वीचि मरीचि-वसन से सजकर नीले तन को।
होड़ लगी सी उछल रही थीं चारु चन्द्र-चुम्बन को ॥

(४)

बैठ जलधि-तीरस्थ शिला पर पथिक प्रेम-व्रत-धारी।
देख रहा था छटा चन्द्र की चित्त-विमोहनहारी ॥

उसी समय अति मधुर पदध्वनि बहुत समीप किसी की—
सुनकर पथिक प्रतीक्षक की द्रुत कली खिल उठी जी की॥

(५)

कुश मेखला विशुद्ध अजिन-कौपीन कसे कृश कटि से।
आये वहाँ तपोधन-सत्तम एक साधु मृदु गति से॥
भस्मावृत निर्धूम अग्नि सा श्मश्रु-युक्त मुख उनका।
द्योतक था महान महिमामय तप, विराग, सद्गुन का॥

(६)

या मुख के सब ओर झलकती विशद प्रभा थी उर की।
या सद्वृत्ति प्रभाव से मिटी थी श्यामता चिकुर की॥
मुनि को देख प्रणाम किया फिर परम प्रफुल्लित मन से।
कहा पथिक ने—'धन्य हुआ मैं आज पुण्य-दर्शन से।

(७)

इस नीरव, निस्तब्ध निशा में छाया ने हिमकर की।
छटा देखता हुआ चन्द्रिका-सिक्त नील सागर की॥
उर में धर तब दर्शन की उत्सुकतामय अभिलाषा।
बैठा हूँ, अब हुई फलवती आतुर आकुल आशा'॥

(८)

प्रकृत-प्रसन्न साधु ने हँसकर कहा—'पुत्र हे प्यारे!
बड़े मधुर हैं प्रेम-सद्म से निकले वाक्य तुम्हारे॥
सुखी रहो, निःस्वार्थ प्रेम की जग में ज्योति जगाओ।
भ्रम में भूले भटके भव को सुख की राह लगाओ॥

(९)

प्रातःकाल सिन्धु में जागृत थीं जब तुङ्ग तरङ्गें।
सत्पुरुषों में यथा लोक-सेवा की उच्च उमङ्गें॥

सकत तट पर मुग्ध खड़े तुम शोभा देख प्रकृति की।
जागृत थे जब दिव्य दिशा में अखिल विश्व-विस्मृति की॥

(१०)

कुछ दूरी पर मैं भी सुनता था प्रभात की बानी।
वहीं तुम्हारे उच्च हृदय की मैंने महिमा जानी॥
मैंने सुना विवाद तुम्हारा गृहिणी के सँग सारा।
देखा वर्णं वर्णं में चित्रित हृदय विशाल तुम्हारा।

(११)

कष्ट दिया मैंने जो तुमको, उसे न मन में लाना।
आओ, बैठो, सुनो, तुम्हें है कुछ रहस्य बतलाना॥'
एक शिला पर बैठ गये मुनि परम विरक्त विरागी।
बैठ गया सामने पथिक भी अनुरागी गृहत्यागी॥

(१२)

सुनने को अति नम्र भाव से स्थित हो उत्सुक मन से।
पथिक देखने लगा साधु को श्रद्धा-सिक्त नयन से॥
बोले मुनि—'हे पुत्र ! जगत् को तुमने त्याग दिया है।
प्रेम-स्वाद चख मोहित हो वन में विश्राम लिया है॥

(१३)

तुम मनुष्य हो, अमित, बुद्धि-बल-विलसित जन्म तुम्हारा।
क्या उद्देश्य-रहित है जग में तुमने कभी विचारा॥
बुरा न मानो, एक बार सोचो तुम अपने मन में।
क्या कर्त्तव्य समाप्त कर लिये तुमने निज जीवन में॥

(१४)

जिस पर गिरकर उदर-दरी से तुमने जन्म लिया है।
जिसका खाकर अन्न सुधा-सम नीर समीर पिया है॥

जिस पर खड़े हुए, खेले, घर बना बसे, सुख पाये।
जिसका रूप विलोक तुम्हारे दृग, मन, प्राण जुड़ाये॥

(१५)

वह सनेह की मूर्ति दयामयि माता तुल्य मही है।
उसके प्रति कर्तव्य तुम्हारा क्या कुछ शेष नहीं है?
हाथ पकड़कर प्रथम जिन्होंने चलना तुम्हें सिखाया।
भाषा सिखा हृदय का अद्‌भुत रूप स्वरूप दिखाया॥

(१६)

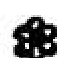
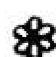
क्या उनका उपकार-भार तुम पर लवलेश नहीं है?
उनके प्रति कर्त्तव्य तुम्हारा क्या कुछ शेष नहीं है?
सतत ज्वलित दुख-दावानल में जग के दारुण रन में।
छोड़ उन्हें कायर बनकर तुम भाग बसे निर्जन में॥

(१७)

केवल सुनकर कष्ट तुम्हारा विचलित हुआ हृदय है।
मनुष्यता के लिए घोर लज्जा, अति निंद्य विषय है॥
शुद्ध प्रेम के मर्म, प्रेम की महिमा से परिचित हो।
प्रेम-मार्ग के पथिक, प्रेम-पीड़ा से व्याकुल-चित हो॥

(१८)

केवल अपने लिये सोचते मौज भरे गाते हो।
जीते, खाते, सोते, जगते, हँसते सुख पाते हो॥
जग से दूर, स्वार्थ-साधन ही सतत तुम्हारा यश है।
सोचो तुम्हीं, कौन जन जग में तुम-सा स्वार्थ-विवश है॥'

नीति के दोहे

(१)

विद्या, साहस, धैर्य, बल, पटुता और चरित्र।
बुद्धिमान के ये छवौ, हैं स्वाभाविक मित्र॥

(२)

नारिकेल सम हैं सुजन, अंतर दयानिधान।
बाहर मृदु भीतर कठिन, शठ हैं बेर समान॥

(३)

आकृति, लोचन, वचन, मुख, इंगित, चेष्टा, चाल।
बतला देते हैं यही, भीतर का सब हाल॥

(४)

शस्त्र वस्त्र भोजन भवन, नारी सुखद नवीन।
किन्तु अन्न, सेवक, सचिव, उत्तम हैं प्राचीन॥

कीच और काँच

पूर्व का आकाश उज्ज्वल लाल था,
अंशुमाली के उदय का काल था।
अब निकल आया सुनहरी थाल-सा,
सब चराचर उस समय खुशहाल था॥१॥

देखते ही देखते क्षण एक में,
फूटकर सब ओर किरणें छा गईं।
सामने से श्याम परदा उठ गया,
वस्तु जग के दृष्टि-पथ में आ गईं॥२॥

आ पड़ी जब एक किरणों से निकल,
ज्योति हँसती चमचमाती कीच पर।
कुछ नहीं उसमें झलक पैदा हुई,
बस, मलिनता ही रही उस नीच पर ॥३॥

पर पड़ी जब एक आभा काँच पर,
तेज से वह जगमगाने लग गया।
हो प्रकाशित खींच किरनों से प्रभा,
सूर्य का टुकड़ा-सदृश वह जग गया ॥४॥

था वही आकाश, किरणें थीं वही,
सूर्य दोनों के लिए था एक ही।
भिन्न थे पर भाव कीचड़ काँच के,
इसलिए उनकी दशा थी भिन्न ही ॥५॥

ऐ हमारे देश के प्यारे युवक,
ठीक ऐसा ही तुम्हारा हाल है।
दृष्टि तुम पर पड़ रही संसार की,
इस तरफ़ भी क्या तुम्हारा ख्याल है ॥६॥

शीघ्र भारतवर्ष में होगा उदय,
भानु उन्नति का क्षितिज के पास है।
क्या ग्रहण कर ज्योति चमकोगे युवक!
क्या हृदय की शक्ति पर विश्वास है ॥७॥

देख लो अपना हृदय वह कीच है!
या कि प्रतिभा-पूर्ण निर्मल काँच है!
वह रहेगा मलिन या देगा चमक,
याद रक्खो वह तुम्हारी जाँच है ॥८॥

कौतूहल

किसकी सुख-निद्रा का मधु-मय स्वप्न-खण्ड है विशद विश्व यह !
जग कितना सुन्दर लगता है ललित खिलौनों का-सा संग्रह !
घन में किस तरह प्रियतम से चपला करती है विनोद हँस-हँसकर !
किसके लिए उषा उठती है प्रतिदिन कर शृङ्गार मनोहर !
मंजु मोतियों से प्रभात में तृण का मरकत-सा सुन्दर कर।
भरकर कौन खड़ा करता है किसके स्वागत को प्रतिवासर !
मैं जिसके निर्मल प्रकाश में करता हूँ दिन-रात अति-क्रम।
ज्योति-मूल वह कहाँ प्रकट है ? बाहर है किसका छाया भ्रम॥
हर्ष-विषादों के उठते हैं जो अगणित उच्छ्वास यहाँ पर।
उनका कौन स्वाद लेता है ? रहता है वह रसिक कहाँ पर ?
जग क्या है ? किसलिए बना है ? क्यों है यह इतना आकर्षक ?
कोई इसका अभिनेता है मैं हूँ कौन ? दृश्य ? या दर्शक ?

('स्वप्न' से)

गयाप्रसाद शुक्ल 'स्नेही' (त्रिशूल)

शुक्ल जी का जन्म श्रावण शुक्ला १३ संवत् १९४० विक्रमी में हुआ था। आपके पिता का नाम पंडित अवसेरीलाल जी था। बाल्यावस्था में ही आपको पितृ-वियोग का कष्ट सहना पड़ा। अतः आपकी शिक्षा-दीक्षा तथा पालन-पोषण का कार्य आपके चचेरे भाई पंडित ललिताप्रसाद जी ने किया था।

आपकी जन्म-भूमि हड़हा ज़िला उन्नाव है। जब आपने वर्नाक्यूलर फाइनल परीक्षा पास की थी, तभी से आपकी रुचि कविता की ओर थी। धीरे-धीरे यही रुचि प्रबल हो गई।

आज आप हिन्दी-संसार के ऊँची श्रेणी के कवि माने जाते हैं। आपकी कविता भावपूर्ण तथा हृदयग्राही होती है। करुण रस आपको बहुत प्रिय है। आपकी भाषा परिमार्जित और बोलचाल की है।

आप स्वभाव के अत्यन्त सरल, सहिष्णु तथा प्रेमी हैं। 'कृषक-क्रन्दन' 'प्रेम-पचीसी' 'कुसुमाञ्जलि' ये आपकी सुन्दर कृतियाँ हैं।

सुशीलता

लहि राज्य धराधिप आप हुए, महि-मध्य प्रचण्ड-प्रताप हुए।
गुण सीख महागुणवान हुए, बल भूरि भरे बलवान हुए॥
धन जोड़ बटोर कुबेर हुए, लहि शौर्य-पराक्रम शेर बने।
रखके उर धैर्य सुधीर बने, करके वर-विक्रम वीर बने॥
न हुए कुछ, जो न सुशील हुए, वन-मानुष, बन्दर, भील हुए।
नर होकर भी खर आप रहे, नित जीवन में परिताप रहे॥
जगती-तल के बन भार गये, अपनी करनी न सुधार गये।
मन में यदि शील सदा रखते, निज जीवन का फल तो चखते॥

सदुपदेश

बात सँभारे बोलिए, समुझि सुठाँव-कुठाँव।
बातै हाथी पाइए, बातै हाथा-पाँव॥१॥
निकले फिर पलटत नहीं, रहत अन्त पर्यन्त।
सत्पुरुषों के वर-वचन, गजराजों के दन्त॥२॥
सेवा किये कृतघ्न की, जात सबै मिलि धूल।
सुधा-धार हू सींचिये, सुफल न देत बबूल॥३॥
काहू की मुसकानि पर, करियो जनि विश्वास।
है समर्थ संसार में, बिज्जुलता को हास॥४॥
चारि जने हिलि मिलि रहैं, तबहीं होत सरङ्ग।
खैर सुपारी चून ज्यों, मिलत पान के सङ्ग॥५॥

('कुसुमाञ्जलि' से)

दीन-निहोरा

दयानिधे! फँस काल-चक्र में दीन हुआ हूँ।
मन मलीन तन छीन महा बल-हीन हुआ हूँ॥

जल से बिछुड़ा गर्म रेत का मीन हुआ हूँ।
घिरा घोर दारिद्र्य, उसी में लीन हुआ हूँ॥
प्रभो! रावरे सिवा शरण अब कहीं नहीं है।
जाता हूँ मैं जिधर, उधर ही 'नहीं नहीं' है॥
दीनबन्धु! क्या व्यथा कहूँ मैं अपने मन की।
नहीं जगत में जगह कहीं नि ल निर्धन की॥
समता होती नहीं सुदामा की इस जन की।
चावल वह दे सके, भेंट को यहाँ न कनकी॥
रही दीनता एक, और कुछ पास नहीं है।
सिवा आपके और किसी से आस नहीं है॥

कृषक-दशा

भरा पूरा था भवन धान्य धन था, क्या कम था?
धन्धा कोई और न था, खेती उद्यम था॥
भैंसें थीं दो तीन, दूध मिलता हरदम था।
मैं बालक था, मुझे कभी कुछ रञ्ज न ग़म था॥
जीवित था, जब पिता सफल मेरा जीवन था।
काम यही, बस, खेल-कूद, खाना-पीना था॥
पेली सौ सौ दण्ड जवान मुचण्ड हुआ मैं।
करता दिल में रहा खेत के लिए दुआ मैं॥
होते अगर न बैल खींचता स्वयं जुआ मैं।
कहता घर में—देख, बली हूँ बड़ा बुआ! मैं॥
रग रग में, क्या कहूँ, जोश जो भरा हुआ था।
देख-देखकर मुझे पिता भी हरा हुआ था॥
हाय! अचानक काल-चक्र ने चक्कर खाया।
चूहे मरने लगे, प्लेग जब घर में आया॥
पिता पड़े बीमार दौड़कर वैद्य बुलाया।
ना उत आये, मान दान सब कुछ करवाया॥

हुआ मगर सब व्यर्थ, पिता जी स्वर्ग सिधारे।
रही न दमड़ी पास, रह गये हम अधमारे॥
'कूड़ामल' ने कहा मुझे एक रोज बुलाकर।
समझो आय हिसाब बाप का अपने आकर॥
गया दौड़ता हुआ वहाँ जब पहुँचा जाकर।
बोले लाला हमें बही अपनी दिखलाकर॥
'गया पत्यौरूस साल, नाज जो उसकी बाढ़ी।
अब तक बाकी आज है हमने काढ़ी'॥

(कृषकक्रन्दन' से)

चरखे के गीत

चरखा चक्र सुदरशन मेरो।
दुःख-दरिद्र-दैत्य दब जाते, ज्यों ही याको फेरो॥ चरखा०

गुनवारो है गुन गुन करतो, सुन धुन मधुकर चेरो।
है जयमाल पहिरिकै आयो, भायो याको घेरो॥ चरखा०

दीन भई संगीन हीन है, खप्यो खड्ग को खेरो।
तकुआ से त्रिशूल चक्र में, याके चक्कर हेरो॥ चरखा०

पहिले रह्यो विष्णु के कर में, करि गान्धी उर डेरो।
फिरि आरत भारत सेवा रत, घर घर कियो बसेरो॥ चरखा०

दुःशासन की देख दुष्टता, द्रुपद-सुता ने टेरो।
चीर बढ़ावन चल्यो चाव सों, करि है विपति-बसेरो॥ चरखा०

शुभ-दिवस-प्रतीक्षा

सनेही, कब फिर वे दिन ऐहैं ?
निज कुटिला करणी पर जब हम बार बार पछितैहैं।
सरल शुद्ध कर अपने मन को प्रेम-प्रयाग नहैहैं॥ सनेही०

तज अन्याय अनीत रीतियाँ छीर-नीर बिलगैहैं।
काले कुटिल काकपदवी तजि, कब कलहंस कहैहैं ।। सनेही०

रंग, जाति, मत, भेद-भाव, भ्रम कब तक हमें भुलैहैं।
मानवीय समता की बातें, कब मन-मध्य समैहैं ।। सनेही०

कब हम एक भाव भाषा की धारा प्रबल बहैहैं ?
माता पिता बन्धु-सम सिगरे भारत को अपनैहैं ।। सनेही०

सत्याग्रह

सत्य सृष्टि का सार, सत्य निर्बल का बल है,
सत्य सत्य है, सत्य नित्य है, अचल-अटल है।
जीवन-सर में सरस मित्रवर! यही कमल है,
मोद मधुर मकरन्द, सुयश सौरभ निर्मल है ।।
मन-मिलिन्द मुनिवृन्द के, मचल मचल इस पर गये।
प्राण गये तो इसी पर, न्योछावर होकर गये ।।१।।

अटल सत्य का प्रेम, भरे जिस नर के मन में,
पाये जो आनन्द आत्म-बल के दर्शन में।
पशुबल समझे तुच्छ, खड्ग भूषण दर्शन में,
सनके भी जो नहीं गोलियों की सन-सन में ।।
जीवन में बस प्रेम ही जिसका प्राणाधार हो।
सत्य गले का हार हो, इतना उस पर प्यार हो ।।२।।

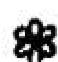
इस पथ में बस वही वीर पहुँचा मंज़िल पर,
डाल न सकती शक्ति मोहिनी जिसके दिल पर।
उससे भिड़कर कौन भाल फोड़ेगा सिल पर,
'खेड़े' में हो अड़ा या कि वह 'रौलट बिल' पर ।।
समझो सम्मुख ही धरा जो कुछ उसका ध्येय है।
विश्व-विजयिनी शक्ति यह, परम अभेद्य, अजेय है ।।३।।

सत्याग्रह प्रेमास्त्र मनों को हरने वाला,
जिनसे परम विरोध उन्हें वश करने वाला।
क्या मनुष्य, वह नहीं काल से डरने वाला,
अजर अमर वह, नहीं किसी से मरने वाला,
कहते थे श्री गोखले 'सत्याग्रह' तलवार है।
जिसमें चारों ही तरफ़ धरी तीव्रतर धार है ॥४॥

जिस पर इसका वार हुआ आत्मा निर्मल की,
खा जाती है जंग छुई जो छाया छल की।
कितनी इसमें लचक भरी है यह कसबल की,
नहीं किसी पर बोझ हवा से भी है हलकी॥
पर अनीति की अनी में, बिजली की सी चाल है।
दाँतों में अँगुली दिये कहते हैं लोग 'कमाल' है ॥५॥

तुम होगे सुकरात जहर के प्याले होंगे,
हाथों में हथकड़ी पाँवों में छाले होंगे।
ईसा-से तुम और जान के लाले होंगे,
होगे तुम निश्चेष्ट डस रहे काले होंगे॥
होना मत व्याकुल कहीं इस भव-जनित विषाद से।
अपने आग्रह पर अटल रहना बस प्रह्लाद-से ॥६॥

धीरज देगी तुम्हें मित्रवर ! मीराबाई।
प्रेम-पयोनिधि-थाह भक्ति से जिसने पाई,
रही सत्य पर डटी, प्रेम से बाज़ न आई।
कृष्ण-रंग में रँगी, कीर्ति उज्ज्वल फैलाई॥
आई भी उसकी टली, वह विष-प्याला पी गई।
मरी उसी की गोद में, जिसको पाकर जी गई ॥७॥

विद्यार्थियों को सम्बोधन

तुम्हीं हो इस उपवन के फूल।
बिना तुम्हारे हरित देश में उड़ती मानों धूल।
जनता-कुञ्ज-कलेवर सूना, जो हो तुम न दुकूल॥
तुम्हीं हो०

रंग-रूप प्यारे! तुम रखना सतत ऋतु-अनुकूल।
सहज-सुगन्ध सुरस से अपने हरना मन के शूल॥
तुम्हीं हो०

ग्रीष्म-ताप हेमन्त-शीत से घबराना न फजूल।
विमल-वसन्त-प्रतीक्षा ही में सब दुख जाना भूल॥
तुम्हीं हो०

ऐसे फल लाना निज बल से, मधुमय मङ्गल-मूल।
जिन पर गर्व करे यह भारत, जाय हर्ष से फूल॥
तुम्हीं हो०

अन्योक्तियाँ

चन्द्र

लोक में कीर्तिवान होते हो, शीत का प्रेम-बीज बोते हो।
जब कि कर सकते हो अमृत-वर्षा, क्यों न अपना कलङ्क धोते हो॥१॥

सूर्य

बाल्य से ही परम प्रशस्त हुए, खूब तप कर तपाया, मस्त हुए।
मित्र! दो दिन न एक रंग रहा, शाम आते ही आते अस्त हुए॥२॥

आकाश

बढ़के विस्तार में कहीं तुम हो, स्वर्ग आदर्श से यहीं तुम हो।
किन्तु विद्वान है यही कहता, शून्य हो यार! कुछ नहीं तुम हो॥३॥

पतंग

ऐ गुड़ी ! तू न यों गुड़ी होती, डोर मज़बूत जो जुड़ी होती।
लड़ के आपस में यों न कट जाती, तू अगर पेंच से उड़ी होती ॥४॥

दुष्ट

बन्धु तक को लगा हुआ है डर, स्वार्थ-रत दुष्ट, पाप-मन्दर।
श्वान, वृक, बाघ, सिंह, चीते से, जन्तु यह किस क़दर भयंकर ॥५॥

श्वान

फारसी-सी यह बूकते क्यों हो ? देशी होकर भी चूकते क्यों हो ?
कौन समझे विलायती भाषा, मग्ज़ खाते हो, बूकते क्यों हो ॥६॥
यों न लड़वाएँ बाँटकर खाएँ ? जो मिले, मिलकर बाँटकर खाएँ ?
पर कहा यों बिगड़कर कुत्तों ने, क्यों अकेले डालकर खाएँ ॥७॥

अग्नि

चूर इसका घमण्ड होने दो, काष्ठ को खण्ड खण्ड होने दो।
क्षार हो जायगी स्वयं जलकर, जिस क़दर हो प्रचण्ड होने दो ॥८॥

कुछ न किया

जिसने बढ़कर नहीं दीन जन को अपनाया,
पतित बन्धु को पुनः उच्च जिसने न बनाया।
सुनकर सकरुण नाद न जिसने कान हिलाया,
दया-सलिल साहाय्य तृषित को नहीं पिलाया।
बस आप जिया अपने लिये, जिया किन्तु वह क्या जिया ?
इस कर्म-भूमि में, आप ही कहिए, क्या उसने किया ? ॥१॥

करके अत्याचार अनाथों पर जो अकड़ा,
रहकर पापासक्त पुण्य का पन्थ न पकड़ा।
भरता हरदम रहा कुटिल कलुषों का छकड़ा,
रहा स्वार्थ-वश विकट मोह-बन्धन में जकड़ा।

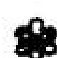
संसार वनस्थल छोड़कर, खोज विषम विष-फल लिया।
इस कर्मभूमि में, आप ही कहिए, क्या उसने किया? ॥२॥

निज बल से काठिन्य-अचल जिसने न हटाया,
लखकर विपद्-प्रवाह हटा, हौसला घटाया।
करके देश-प्रेम मातृभू-ऋण न पटाया,
बनकर जीवन-समर-शूर निज सिर न कटाया।

उस कुल कपूत से क्या हुआ, कुचल काल-बल ने दिया।
इस कर्म-भूमि में, आप ही कहिए, क्या उसने किया? ॥३॥

निज भुज-विक्रम से न शत्रु का सिर यदि तोड़ा,
तो है सब बल व्यर्थ, बहुत हो या हो थोड़ा।
सन्मित्रों से नहीं प्रेम का नाता जोड़ा,
अथवा मतलब साध, साथ फिर छल से छोड़ा!

उस अधम अन्ध ने सुधा तज, तुच्छ ताल का जल पिया।
इस कर्म-भूमि में, आप ही कहिए, क्या उसने किया? ॥४॥

रामचन्द्र शुक्ल

शुक्ल जी का जन्म सं० १९४१ विक्रमी आश्विन की पूर्णिमा को अगोना ज़िला बस्ती में पंडित चन्द्रबली शुक्ल के घर हुआ। बाल्यावस्था से ही आपकी रुचि काव्यानुशीलन में रही है। १६ वर्ष की अवस्था में इनकी सर्वप्रथम कविता 'मनोहर छटा' नाम से सरस्वती में प्रकाशित हुई थी, और उसके पश्चात् आपके बहुत से लेख तथा कविताएँ सरस्वती आदि पत्र-पत्रिकाओं में निकलने लगीं।

आधुनिक काल में आपका स्थान सर्वश्रेष्ठ समालोचकों में गिना जाता है। आपने अभी तक निम्नलिखित पुस्तकों की रचना की है—

कल्पना का आनन्द, मैगस्थनीज़ का भारतवर्षीय विवरण, राज्य-प्रबन्ध-शिक्षा, विश्व-प्रपञ्च, प्राचीन पारस का संक्षिप्त इतिहास, तुलसी, बुद्ध-चरित आदि।

उद्बोधन

जाय दूत तब बात कही नृप सों यह सारी,
"महाराज, है तव कुमार की इच्छा भारी।
बाहर के प्राणिन को देखे मन बहलावै,
कहत कालि मध्याह्न समय रथ जोते आवै ॥१॥
बोल्यो भूप विचारत "हा! अब तो है अवसर,
किन्तु फिरै यह डौंडी सारे आज नगर घर।
हाट बाट सब सजै रहै ना कछू अरुचिकर,
अंध, पंगु, कृश, जराजीर्ण जन कढ़ैं न बाहर ॥२॥
जात मार्ग सब झारि और छिरको जल छन छन,
धरैं कुल-वधू दधि, दूर्वा रोचन निज द्वारन।
घर घर बन्दनवार बँधे लहि रंग सजीले,
भीतिन पर के चित्र लगत चटकीले गीले ॥३॥
पेड़न पर फहरात केतु नाना रंग वारे,
भयो रुचिर शृंगार मंदिरन में है सारे।
सूर्य आदि देवन की प्रतिमा गई सँवारी,
अमरावती-सी होय रही नगरी सो सारी" ॥४॥
गृह सँवारे सकल, शोभा नगर वीर अपार,
बैठि चित्रित चारु रथ पर कढ्यो राजकुमार।
चपल धवल तुरंग की जोड़ी नयी दरसाय,
रह्यो मंडप झलकि रथ को प्रखर रवि कर पाय ॥५॥
बनै देखत ही सकल पुरजनन को उल्लास,
करैं अभिवादन कुँवर को आवते जब पास।
भयो प्रमुदित कुँवर लखि सो नर समूह अपार,
हँसत यों सब लोग जीवन है मनौ सुख सार ॥६॥
कुँवर बोल्यो—'मोहिं चाहत लोग सबै लखात,
होत जीव सुशील ये जो नृप कहे नहिं जात।

मगन हैं भगिनी हमारी लगीं उद्यम माहिं,
कियो इनको कौन हित हम नेकु जानत नाहिं' ॥७॥

... ...
... ...

रथ बढ़ाओ, लखैं छन्दक! आज हम दै ध्यान,
और सुखमय जगत यह नहिं रह्यो जाको ज्ञान ॥८॥
किन्तु वाहि समय निकस्यो झोंपड़ी सों आय,
एक जर्जर वृद्ध पथ पै धरत डगमग पाय।
फटे मैले चीथरे तन पै लपेटे घोर,
जाति काहू की न भूलिहु दृष्टि जाकी ओर ॥९॥
त्वचा झुर्री भरी सूखी खाल सी दरसाति,
भूलि पंजर पै रही पल-हीन काहू भाँति।
नई वाकी पीठ है दबि बहु दिनन के भार,
धँसी आँखिन सों बहै कीचड़ तथा जलधार ॥१०॥
हिलति रहि रहि दाढ़ जामें एकहू नहिं दाँत,
धूम और उछाह एतो देखि देखि सकात।
लिये लाठी एक निज कंकाल-कर में छीन,
टेकिबे हित, अंग जर्जर और शक्ति विहीन ॥११॥
दूसरो कर धरे पसुरिन पै हृदय के पास,
कढ़ै भारी कष्ट सों रहि रहि जहाँ सों साँस।
क्षीण स्वर सों कहत है 'दाता! सदा जय होय,
देहु कछु, मरि जाय हौं अब और हौं दिन दोय' ॥१२॥
खड़ो हाथ पसारि, कफ सों गयो कंठ रुँधाय,
कठिन पीड़ा सों कहरि पुनि कह्यो 'कछु मिलि जाय'।
किन्तु ताहि ढकेलि पथ सों कह्यो लोग रिसाय,
'भाग ह्याँ सों, नाहिं देखत, कुँवर हैं रहे आय?' ॥१३॥
कहत कुँवर पुकारि 'हैं हैं! रहन क्यों नहिं देत?'
फेरि बभ्रत सारथी सों करत कर संकेत।

"कहा है यह ? देखिबे में मनुज सों दरसात,
विकृत, दीन, मलीन, छीन, कराल औ नतगात ॥१४॥

कबहुँ जनमत कहा ऐसे हू मनुज संसार ?
अर्थ याको कहा जो यह कहत 'हौं दिन चार' ?
नाहिं भोजन मिलत याको हाड़ हाड़ लखाय,
विपद या पै कौन-सी है परी ऐसी आय ?" ॥१५॥

दियो उत्तर सारथी तब "सुनौ, राजकुमार !
वृद्ध नर यह और नहिं कछु जाहि जीवन भार।
रही चालीस वर्ष पहिले जासु सूधी पीठ,
रहे अंग सुडौल सब औ रही निर्मल दीठ ॥१६॥

कुँवर पूछ्यो 'कहा, याही गति सबै की होय,
मिलत अथवा कहूँ ऐसो एक सौ में कोय'।
कह्यो छन्दक 'सबै याही दशा में दरसायँ,
जियत एते दिनन लौं जो जगत में रहि जायँ ॥१७॥

('बुद्धचरित' से)

शैशव

मृदुल-मानव-मन-मोहन मन्त्र, हृदय-हर्षक कर्षक प्रिय तन्त्र,
मधुर-मृदु-मोद सौख्य के यन्त्र, बनाते किसे नहीं परतन्त्र ?
न तुम-सा मिलता जग में अन्य ! जियो-जागो जग में शिशु धन्य !!

लुभाने वाला सुन्दर रूप, प्राण-प्रिय प्रेम-प्रदीप सुभूप,
छटा-छवि-प्रतिभा-रङ्ग अनूप, तुम्हीं बस हो अपने अनुरूप !
जगत्-जंजाल-जालिका-जन्य ! जियो-जागो जग में शिशु धन्य !!

मृदुल-मानव-मानस को मोल, मूल्य बिन ले, तव तुतला बोल,
कुतूहल-कल-कौमुदी-कलोल, लहर-लीला लहराती लोल !
नीरस मन-मुग्धक लुब्धक धन्य ! जियो-जागो जग में शिशु धन्य !!

भरी तुम में आकर्षण शक्ति, भव्य भोले भावों की भक्ति,
अलौकिकता-अम्बुध-अनुरक्ति, न लुब्धक जिसे कौन वह व्यक्ति ?
अनूठी वस्तु-वृन्द में गण्य ! जियो-जागो जग में शिशु धन्य !!

कलित-कुञ्चित-कल-काले केश, कमल-कोमल-कपोल का देश,
अधर-मृदु-अरुण मञ्जु-मधुरेश, वशीकर-विमल-विनोदक वेश !
प्राकृतिक प्रयत प्रेम-पर्जन्य ! जियो-जागो जग में शिशु धन्य !!

देखकर तुमको आता ध्यान, हमें निज शैशव सौख्य महान,
वही कल-क्रीड़ा कौतुक गान, कुतूहल लोल-कपोल निदान !
चाहता शैशव में अवसन्य ! जियो-जागो जग में शिशु धन्य !!

मधुर-मृदु-मञ्जुल-मुख-मुस्कान, मौनतामयी मनोज महान,
न कर सकते जिसको अनुमान, निछावर जिस पर तन-धन-प्रान !
सरलता-सार-सना सौजन्य ! जियो-जागो जग में शिशु धन्य !!

न लौकिकता की झूठी झलक, कठिन कारुणिक कष्ट की कलक,
मलिनता-चिन्ता-रेखा तलक, न थी, थी हर्ष-किलक की ललक !
न तेरा जीवन है उपमन्य ! जियो-जागो जग में शिशु धन्य !!

चपलता चारु चुराती चित्त, तुम्हारी भोली चितवन नित्त,
बिहँसकर कृता वैमुखी-वृत्त, वारते जिस पर तन-मन-वित्त !
कान्ति-कोमलता-पूर्ण अनन्य ! जियो-जागो जग में शिशु धन्य !!

अछूत की आह

एक दिन हम भी किसी के लाल थे,
आँख के तारे किसी के थे कभी।
बूँद भर गिरता पसीना देखकर,
था बहा देता घड़ों लोहू कोई ॥१॥

देवता देवी अनेकों पूजकर,
निर्जला रहकर कई एकादशी।
तीर्थों में जा द्विजों को दान दे,
गर्भ में पाया हमें माँ ने कहीं ॥२॥
जन्म के दिन फूल की थाली बजी,
दुःख की रातें कटीं सुख दिन हुआ।
प्यार से मुखड़ा हमारा चूमकर,
स्वर्ग-सुख पाने लगे माता-पिता ॥३॥
हाय! हमने भी कुलीनों की तरह,
जन्म पाया प्यार से पाले गये।
जी बचे फूले फले तब क्या हुआ,
कीट से भी नीचतर माने गये ॥४॥
जन्म पाया पूत हिन्दुस्तान में,
अन्न खाया और यहीं का जल पिया।
धर्म्म हिन्दू का हमें अभिमान है,
नित्य लेते नाम हैं भगवान का ॥५॥
पर अजब इस लोक का व्यवहार है,
न्याय है संसार से जाता रहा।
श्वान छूना भी जिन्हें स्वीकार है,
है उन्हें भी हम अभागों से घृणा ॥६॥
जिस गली से उच्च कुल वाले चलें,
उस तरफ चलना हमारा दण्ड्य है।
धर्म्म-ग्रन्थों की व्यवस्था है यही,
या किसी कुलवान का पाखण्ड है ॥७॥
छोड़कर प्यारे पुराने धर्म्म को,
आज ईसाई-मुसलमाँ हम बने।
नाथ! कैसा यह निराला न्याय है?
तो हमें सानन्द सब छूने लगे ॥८॥

हम अछूतों से बताते छूत हैं,
कर्म कोई खुद करें पर पूत हैं।
हैं सगों को ये पराया मानते,
क्या यही स्वामी ! तुम्हारे दूत हैं ॥६॥

शासकों से माँगते अधिकार हैं,
पर नहीं अन्याय अपना छोड़ते।
प्यार का नाता पुराना तोड़कर,
हैं नया नाता निराला जोड़ते ॥१०॥

नाथ ! तुमने ही हमें पैदा किया,
रक्त मज्जा मांस भी तुमने दिया।
ज्ञान दे मानव बनाया, फिर भला
क्यों हमें ऐसा अपावन कर दिया ॥११॥

जो दयानिधि ! कुछ तुम्हें आये दया,
तो अछूतों की उमड़ती आह का।
यह असर होवे कि हिन्दुस्तान में,
पाँव जम जावे परस्पर प्यार का ॥१२॥

शिशिर-पथिक

विकल पीड़ित पीय-पयान तें, चहुँ रह्यो नलिनी-दल घेरि जो।
भुजन भेंटि तिन्हैं अनुराग सों, गमन-उद्यत भानु लखात है ॥१॥

तजि तुरन्त चले मुँह फेरिकै, शिशिर-शीत-सशंकित मेदिनी।
विहग आरत बैन पुकारते, रहि गये, पर नेकु सुन्यो नहीं ॥२॥

तनि गये सित ओस-वितान हू, अनिल-झार-बहार धरा परी।
लुकन लोग लगे घर बीच हैं, विवर-भीतर कीट पतंग से ॥३॥

युग भुजा उर बीच समेटिकै, लखहु आवत गैयन फेरिकै।
कँपत कम्बल बीच अहीर हैं, भरमि भूलि गई सब तान है ॥४॥

तम चहूँ दिशि कारिख फेरिकै, प्रकृति-रूप कियो धुँधलो सबै।
रहि गये अब शीत-प्रताप तें, निपट निर्जन घाटऽरु बाट हू ॥५॥

पर चलो वह आवत है लखो, विकट कौन हठी हठ ठानिकै।
चुप रहैं तब लौं जब लौं कोऊ, सुजन पूछनहार मिले नहीं ॥६॥

शिथिल गात परयो, गति मंद है, चहुँ निहारत धाम विराम को।
उठत धूम लख्यो कछु दूर पै, करत श्वान जहाँ रव भूँकिकै ॥७॥

कँपत आय भयो छिन में खड़ो, दृढ़ कपाट लगे इक द्वार पै।
सुनि परयो 'तुम कौन?' कह्यौ तबै, 'पथिक दीन दया एक चाहतो' ॥८॥

खुलि गये झट द्वार धड़ाक तें, धुनि परी मधुरी यह कान में—
'निकसि आय बसौ यहि गेह में, पथिक! वेगि संकोच विहाय कै' ॥९॥

पग धरयो तब भीतर भौन के, अतिथि आवन-आयसु पाय कै।
कठिन-शीत प्रताप-विघातिनी, अनल-दीर्घ-शिखा जहँ फेंकती ॥१०॥

चपल दीठि चहूँ दिसि घूमि कै, पथिक की पहुँची इक कोन में।
वय-पराजित जीवन जंग में, दिन गिनै नर एक परो जहाँ ॥११॥

सिर-समीप सुता मन मारिकै, पितहिं सेवति सील सनेह सों।
तहँ खड़ी नत-गात कृशांगिनी, लसति वारि-विहीन मृणाल सी ॥१२॥

लखि फिरी दिसि आवनहार के, विमल आसन इंगित सों दयो।
अतिथि बैठि असीस दयो तबै, 'फलवती सिगरी तव आस हो' ॥१३॥

मृदु हँसी करुणा रस सों मिली, तरुणि आनन ऊपर धारि कै।
कहति 'हाय, पथिक! सुनु बावरे! उकठि बेलि कहाँ फल लावई? ॥१४॥

गति लखी विधि की जब वाम मैं, जगत के सुख सों मुख मोरि कै।
सरुचि पालन पितृ-निदेश औ, अतिथि-सेवन को व्रत लै लियो ॥१५॥

अब कहौ परिचै तुम आपनो, इत चले कितते कित जावगे?
बिचलि कै चित के किहि वेग सों, पग धरयो पथ-तीर अधीर ह्वै? ॥१६॥

सलिल सों नित सींचति आस के, सतत राखति जो तन बेलि है।
पथिक! बैठि अरे तुव बाट को, युवति जोवति है कतहूँ कोऊ? ॥१७॥

नयन कोउ निरंतर धावते, तुमहिं हेरन को पथ-बीच में?
श्रवण-द्वार कोऊ रहते खुले, कहुँ अरे! तुव आहट लेन को? ॥१८॥

कहु कहूँ तोहि आवत जानि कै, निकटता तव मोद-प्रदायिनी।
प्रथम पावन हेतुहि ह्वै चरण, लोचन बीज बदाबदी ॥१९॥

करि दया श्रम जो सुख देत है, सुमन-मंजुल जाल बिछाय कै।
कठिन काल निरंकुश निर्दयी, छिनहिं छीनत ताहि निबारिकै?' ॥२०॥

दबि गयो इन प्रश्नन-भार सों, पथिक छीन मलीन थको भयो।
अचल मूर्त्ति बन्यो पल एक लौं, सब क्रिया तन की मन की रुकी ॥२१॥

बदन शक्ति विहीन विलोकि कै, नयन नीरन उत्तर दै दियो।
'तव यथार्थ सबै अनुमान है, अति अलौकिक देवि, दयामयी!' ॥२२॥

अचल दीठि पसारि निहारते, पथिक को अपनी दिशि देखि कै।
कहन यों पुनि आप हि सों लगी, अति पवित्र दया-व्रत-धारिणी ॥२३॥

'कुशलता यहि में नहिं है कछू, अरु न विस्मय की कछु बात है।
दिवस खेइ रहे दुख ओर जो, गति लखैं मग में उलटी सबै' ॥२४॥

उभय मौन रहे कछु काल लौं, पथिक ऊपर दीठि उठाय कै।
इक उसास भरी गहरी जबै, छुटि पुरी मुख तें वचनावली ॥२५॥

"अवनि ऊपर देश विदेश में, दिवस घूमत ही सिगरे गये।
मिसिर, काबुल, चीन, हिरात की, पगन धूरि रही लपटाय है ॥२६॥

पर-दशा-दिशि-मानस-योगिनी, लखि परी इकली भुव बीच तू।
परखि पूछन साँच सुनाय हैं, हम गई तन ऊपर बीति जो ॥२७॥

मन परै दुख की जब वा घरी, पलटि जीवन जो जग में दियो।
चतुर मेजर मंत्रहि मानि कै, करि दियो सपनो अपनो सबै ॥२८॥

हित-सनेह-सने मृदु बोल सों, जब लियो इन कानन फेरि मैं।
स्वजन और स्वदेश-स्वरूप को, करि दियो इन आँखिन ओट हा! ॥२९॥

अब परें सुनि बोल यही हमें, 'धरहु, मारहु, सीस उतारहू'।
दिवस रैन रहै सिर पै खरी, अति कराल छुरी अफ़गान की ॥३०॥

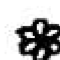
चलि रहे चित आस बँधाय कै, अवसि ही मम भामिनि भोरि को।
अपर-लोक-प्रयाण-प्रयास तें, मम समागम-संशय रोकि है ॥३१॥

इत कहूँ इक 'पावन' गाँव है, जहँ घनी बसती विधुवंश की।
तहँ रहे इक 'विक्रमसिंह' जो, सुवन तासु यही 'रणवीर' है" ॥३२॥

कढ़त ही इन बैनन के तहाँ, मचि गयो कछु औरहि रंग ही।
बदन अंचल बीच छपावती, मुरि परी गिरि भू पर भामिनी ॥३३॥

असम साहस वृद्ध कियो तबै, उठि धरयो महि पै पग खाट तें।
'पुनि कहौ' कहि बारहि बार ही, पथिक को फिरि फेरि निहारतो ॥३४॥

आशा त्यागी बहु दिनन की नेकु ही में पुरावै।
लीला ऐसी जगत-प्रभु की, भेद को कौन पावै?
देखो, नारी सुव्रत-फल को बीच ही माँहि पायो।
भूलो प्यारो भटकि पथ तें प्रेम के, फेरि आयो ॥३५॥

बदरीनाथ भट्ट

भट्ट जी गोकुलपुरा आगरा के निवासी थे। आपके पिता पंडित रामेश्वर भट्ट हिन्दी के अच्छे विद्वान् थे। भट्ट जी ने जब से बी० ए० किया, तभी से आप लगातार हिन्दी की सेवा करते रहे। आप लखनऊ यूनिवर्सिटी में देर तक हिन्दी के अध्यापक रहे।

आपके लिखे 'चन्द्रगुप्त' 'तुलसीदास' 'वेनचरित्र' तथा 'दुर्गावती' नाटकों ने हिन्दी-समाज में यथेष्ट मान प्राप्त किया है। इनके अतिरिक्त 'विवाह-विज्ञापन' और 'लबड़ धों धों' ने भी प्रहसनों में अच्छी ख्याति प्राप्त की है।

आपकी भाषा सुन्दर और भाव उच्च हैं। आपका हिन्दी-जगत् में अच्छा मान है।

प्रार्थना

अशरण-शरण ! शरण हम तेरी ।
भूले हैं मग, विपिन सघन है, छाई गहन अँधेरी ॥१॥
स्वार्थ - समीर चली ऐसी, सब सुमन-सुमन बिखराये।
हा सद्भाव-सुगन्धि चुराई, प्रेम-प्रदीप बुझाये ॥२॥
कलह-कण्टकों से छिदवाया, सुख-रस सभी सुखाया ।
भ्रातृ-भाव के बन्धन तोड़े, अपना किया पराया ॥३॥
लख दुर्दशा हमारी नभ ने, ओस-बूँद ढलकाई ।
वह भी हम पर गिर कर फूटी, इधर उधर कतराई ॥४॥
करुणा-सिन्धु ! सहारा तेरा, तू ही है रखवाला ।
दीन अनाथ हुए हम हा हा ! तू दुख हरने वाला ॥५॥
ऐसा कृपा-प्रकाश दिखा दे, अपनी दशा सुधारें ।
आत्म-त्याग का मार्ग पकड़ लें, देश-प्रेम उर धारें ॥६॥
विस्तारें जातीय एकता, भेद विरोध बिसारें ।
भारत माता की जय बोलें, जल थल नभ गुंजारें ॥७॥
अशरण-शरण ! शरण हम तेरी ।

प्रातःकालीन तारों के प्रति

चिढ़ाते हो क्यों हमको यार !
धीरे धीरे टूट रहा है सभी तुम्हारा तार ॥१॥
हस-हँसकर हमको निहारते, आँखें मटकाते न हारते ।
मिट जाओगे पलक मारते, रहे मिनट दो चार ॥२॥
निज को सुखी समझते हो तुम, सब से तभी उलझते हो तुम ।
अपनी बान न तजते हो तुम—करो न आत्म-सुधार ॥३॥
वृथा घृणा सब से करते हो, औरों का क्यों सुख हरते हो ?
ध्यान न कुछ मन में धरते हो—किसका है संसार ? ॥४॥

आसमान पर खड़े हुए हो, सब से ऊँचे चढ़े हुए हो।
सब बातों में बढ़े हुए हो—हुए न तनिक उदार ॥५॥
जिस प्रभु ने है तुम्हें बनाया, उसने ही सब जग प्रगटाया।
हमको भी उसने जन्माया—तुम कैसे सरदार ? ॥६॥
पीछे से पछताओगे तुम, रवि की ठोकर खाओगे तुम।
यम के घर उड़ जाओगे तुम—ले कर्मों का भार ॥७॥
चिढ़ाते हो क्यों हमको यार !

जीवन्मुक्त-पञ्चक

पूछते हो क्या मेरा नाम ?
जड़ चेतन सब दिखा रहे हैं मेरा रूप ललाम।
जल, थल, अनल, अनिल, गगन, सब में हूँ मैं व्याप्त।
विश्व बीज ओंकार तक, मुझ में हुआ समाप्त ॥१॥ पूछते हो०
आत्म-ज्ञान की नाव में, बैठा हूँ सानन्द।
भव-सागर में घूमता, फिरता हूँ स्वच्छन्द ॥२॥ पूछते हो०
भव-जल में मैं कमल हूँ, भव-घन में आदित्य।
भव-घट-मठ में व्योम हूँ, अद्भुत अक्षर नित्य ॥३॥ पूछते हो०
नर-तनु है धारण किया, करने को खिलवाड़।
कोई देख सका नहीं, तिल की ओट पहाड़ ॥४॥ पूछते हो०
अहङ्कार का हार, डाल कल्पना के गले।
माया-मय संसार, बन बैठा मैं आप ही ॥५॥ पूछते हो०

नया फूल

खिला है नया फूल उपवन में।
सुखी हो रहे हैं सब तरुवर, बेलें हँसतीं मन में ॥१॥

प्रात समीर लगी, सुख पाया, पहली दशा भुलाई।
जिधर निहारा उधर प्रेम की थाली परसी पाई ।।२।।

रूठ अनूठा लेकर आया, मृदु सुगन्धि फैलाई।
सब के हृदय-देश में अपनी प्रभुता-ध्वजा उड़ाई ।।३।।

जीत लिया है तूने सब को, ऐसी लहर चलाई।
रोकर हँसकर सभी तरह से अपनी बात बनाई ।।४।।

आत्मत्याग

दे रहा दीपक जलकर फूल।
रोपी उज्ज्वल प्रभा-पताका अन्धकार-हिय हूल ।।१।।
इसके जीवन-तरु का केवल आत्मत्याग है मूल।
जिसके बल मनहरण सुरभिमय खिलता है यश-फूल ।।२।।
जीवन-मरण डोरियों पर, हाँ आप रहा है झूल।
हँस हँस खाय हवा के झोंके, अपना आपा भूल ।।३।।
पर-हित-साधन में मर मिटना, होना नाश कबूल।
सुख पाता है सोच हृदय में, 'जीवन हुआ वसूल' ।।४।।
तो भी मलिन पवन यह कैसा, हो इसके प्रतिकूल।
करने को इसका प्रभाव कम, उड़ा रहा है धूल ।।५।।
क्यों है यह इसका द्वेषी—यह शंका है निर्मूल।
सुजन-सुजनता होती ही है, दुर्जन को हिय शूल ।।६।।
दे रहा दीपक जलकर फूल।

तुलसीदास और रामायण

सुलभ कर गये ब्रह्म का ज्ञान।
तरने को भवसिन्धु बनाया राम-नाम-जलयान ।।१।।
दृश्य-अदृश्य, अलौकिक-लौकिक मिले एक ही ठाँव।
भक्ति, ज्ञान वैराग्य आदि आ बसे एक ही गाँव ।।२।।

स्वार्थ और परमार्थ मिलाया, हुआ सार निःसार।
अनुभव की कुँजी से खोला अगम मुक्ति का द्वार ॥३॥
मोह शिखर पर फँसे जनों को सीढ़ी है तय्यार।
गिरने का है डर न ज़रा भी राम नाम आधार ॥४॥
रोम रोम में रमा तुम्हारे रामरूप संसार।
भक्ति प्रेम अवतार! धन्य है तुमको बारम्बार ॥५॥

अनुरोध

(एक बन्द कमल के प्रति)

अब तो आँखें खोलो प्यारे!
पूर्व दिशा अब अरुणा हुई है, प्रकृतिदेवि पट बदल रही है!
यम ने तम की बाँह गही है, छिपकर भागे तारे।
प्रमुदित नलिनी बिहँस खिली है, प्रिय समीर से सुरभि मिली है,
अति शोभामय वनस्थली है, अलिगण हैं गुंजारे।
नवजीवन संचार हुआ है, ऐक्य-भाव-विस्तार हुआ है,
सुखमय सब संसार हुआ है, जागे साथी सारे।
उषा देवी के दर्शन पाकर, हुए प्रफुल्लित सभी चराचर,
तुम क्यों सोये शीश झुकाकर, सुधि बुधि सभी बिसारे,
अब तो आँखें खोलो प्यारे!

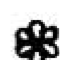
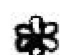
परिवर्तन और भय

यह निकला कैसा उजियाला!
हिमकर-शर-समूह ने तम का जर्जर कर शरीर डाला।
अथवा निशि ने साबुन से निज कृष्ण रूप को धो डाला॥
जिसे देख हँस पड़ी वन-श्री, खिली कुमुदिनी की माला।
बिगड़ गई तारों की छवि, मुँह हुआ उलूकों का काला॥

उठे न कमल, घोर ईर्षा का पड़ा कमलिनी से पाला।
खाकर सिंहनाद-भाला करि-वृन्द हो गया मतवाला॥
छिपते फिरते हैं मृग, भय का पड़ा बुद्धियों में ताला।
इनकी देख दुर्दशा डर से 'हर! हर!' कहता है नाला॥
भय से छिप, तम ने सोचा 'क्या जगी काल की है ज्वाला ?'
पड़ा धर्म-संकट हा! हा! अब कौन हमारा रखवाला।
हँसकर बोली विमल चन्द्रिका—'कहाँ छिपोगे अब-लाला ?'

सूखी पत्ती

पड़ी भूमि पर ठोकर खाती, पीला तेरा रंग हुआ है।
सब रस रूप समय ने लूटा, चुरमुर सारा अंग हुआ है॥
जिस पर रहती थी सवार नित, घुल-घुलकर बातें करती थी।
वही हवा अब धूल फेंकती, उलटा सारा ढंग हुआ है॥
हुई चूर अभिमान-नशे में, सब पर हँसती झूम रही थी।
कौन पूछता है अब तुम को, वह सुख-सपना भंग हुआ है॥
सब के सिर पर चढ़ी हुई थी, अब सब पैरों तले कुचलते।
ऊँचे चढ़कर नीचा देखा, सभी रंग बदरंग हुआ है॥
जिस झोंरे पर झोंटे लेटी, फूल-फूलकर झूल रही थी।
उसने भी है तुझे भुलाया, सारा प्रेम कुरंग हुआ है॥
अब क्या जुड़ सकती है तरु में, किसकी है तू, कौन है तेरा।
इस दुनियाँ में कोई किसी के दुख में कभी न संग हुआ है॥
'दुख क्या है ?' 'अभिमान-प्रतिध्वनि' है आशा का रूप निराशा।
है जीवन का हेतु मरण ज्यों मणि का हेतु भुजंग हुआ है॥
पड़ी भूमी पर ठोकर खाती।

सुमित्रानन्दन पन्त

पन्त जी का जन्म संवत् १९५७ में कैसानी ज़िला अल्मोड़ा में हुआ। इन्होंने आठ-दश वर्ष की आयु से ही कविता आरम्भ कर दी थी। आपकी गणना आज नये युग के प्रवर्तकों में है।

आप छायावादी कवि हैं। कविता भावपूर्ण और रहस्यमयी होती है। इनकी कोमल-कान्त-पदावली अपनी ही है। कविता की गति पहाड़ी निर्झर के सदृश है। वह आनन्द का बोध कराती छलछलाती हुई चलती है।

आपकी कविता में प्रकृति का अनूठा चित्रण है। उसी में उनकी तन्मयता की झलक है। इसी लिए तो आप प्रकृत कवि माने जाते हैं। आप तुकान्त अतुकान्त सभी तरह की कविता करते हैं। आपने रहस्यवाद के साथ-साथ छायावाद की भी कविताएँ की हैं। वीणा, पल्लव, गुञ्जन आदि आपकी कई पुस्तकें पढ़ने योग्य हैं।

मधुकरी

सिखा दो ना हे मधुपकुमारि! मुझे भी अपने मीठे गान।
कुसुम के चुने कटोरों से, करा दो ना कुछ कुछ मधु-पान॥
नवल-कलियों के धोरे झूम, प्रसूनों के अधरों को चूम।
मुदित, कवि-सी तुम पाठ, सीखती हो सखि! जग में घूम॥
सुना दो ना तब हे सुकुमारि! मुझे भी ये केसर के गान॥

किसी के उर में तुम अनजान! कभी बँध जाती बन चित-चोर।
अधखिले, खिले, सुकोमल-गान, गूँथती हो फिर उड़ उड़ भोर॥
मुझे भी बतला दो न कुमारि! मधुर निशि-स्वप्नों के वे गान?

सूँघ चुन कर, सखि! सारे फूल, सहज बिंध, बँध निज-सुख-दुख भूल।
सरस रचती हो ऐसा राग, धूल बन जाती है मधुमूल।
पिला दे ना तब हे सुकुमारि! इसी से थोड़े मधुमय-गान।
कुसुम के खुले कटोरों से, करा दो ना कुछ कुछ मधुपान।

मौन निमन्त्रण

स्तब्ध-ज्योत्स्ना में जब संसार, चकित रहता शिशु सा नादान।
विश्व के पलकों पर सुकुमार, विचरत हैं जब स्वप्न-अजान॥
न जाने, नक्षत्रों से कौन, निमन्त्रण देता मुझको कौन?

सघन-मेघों का भीमाकाश, गरजता है जब तमसाकार।
दीर्घ भरता समीर निःश्वास, प्रखर झरती जब पावस-धार॥
न जाने, तपक तड़ित में कौन! मुझे इंगित करता तब मौन!

देख वसुधा का यौवन-भार, गूँज उठता है जब मधुमास।
विधुर-उर के-से मृदु उद्गार, कुसुम जब खिल पड़ते सोल्लास॥
न जाने, सौरभ के मिस कौन, सँदेशा मुझे भेजता मौन!

क्षुब्ध-जल-शिखरों को जब वात, सिन्धु में मथकर फेनाकार।
बुलबुलों का व्याकुल-संसार, बना बिथुरा देता अज्ञात॥
उठा तब लहरों से कर कौन, न जाने मुझे बुलाता मौन!

स्वर्ण, सुख, श्री, सौरभ में भोर, विश्व को देती है जब बोर।
विहग-कुल की कल कण्ठ-हिलोर, मिला देती भू-नभ के छोर॥
न जाने, अलस-पलक-दल कौन, खोल देता तब मेरे मौन।

तुमुल-तम में तब एकाकार, ऊँघता एक साथ संसार।
भीरु झींगर-कुल की झनकार, कँपा देती तन्द्रा के तार॥
न जाने, खद्योतों से कौन! मुझे पथ दिखलाता तब मौन!

कनक छाया में जब कि सकाल, खोलती कलिका उर के द्वार।
सुरभि पीड़ित-मधुपों के वाल, तड़प, बन जाते हैं गुञ्जार॥
न जाने, ढुलक ओस में कौन! खींच लेता मेरे दृग मौन!

बिछा कार्यों का गुरुतर-भार, दिवस को दे सुवर्ण-अवसान।
शून्य-शय्या में श्रमित अपार, जुड़ाती जब मैं आकुल-प्राण॥
न जाने मुझे स्वप्न में कौन! फिराता छाया-जग में मौन!

न जाने कौन, अये द्युतिमान! जान मुझको अबोध अज्ञान।
सुझाते हो तुम पथ अनजान, फूँक देते छिद्रों में गान॥
अहे सुख-दुख के सहचर मौन! नहीं कह सकती तुम हो कौन!

जीवन-यान

अहे विश्व! ऐ विश्व व्यथित मन!
किधर बह रहा है यह जीवन?
यह लघु-पोत, पात, तृण, रज-कण,
अस्थिर भीरु-वितान॥

किधर ? किस ओर ? अछोर, अजान,
डोलता है यह दुर्बल-यान !

मूक-बुद्-बुदों-से लहरों में,
मेरे व्याकुल-गान।

फूट पड़ते निःश्वास-समान,
किसे है हा ! पर उनका ध्यान ॥

कहाँ दुरे हो मेरे ध्रुव ? हे पथ-प्रदर्शक ! द्युतिमान !
दृगों से बरसा यह अपिधान, देव ! कब दोगे दर्शन दान ?

चाह

मैं नहीं चाहता चिर-सुख, चाहता नहीं अविरत-दुख;
सुख-दुख की खेल-मिचौनी, खोले जीवन अपना मुख।

सुख-दुख के मधुर मिलन से, यह जीवन हो परिपूरन;
फिर घन में ओझल हो शशि, फिर शशि से ओझल हो घन।

जग पीड़ित है अति दुख से, जग पीड़ित है अति सुख से;
मानव-जग में बँट जावें, दुख सुख औ सुख दुख से।

अविरत दुख है उत्पीड़न, अविरत सुख भी उत्पीड़न;
दुख-सुख की निशा-दिवा में, सोता-जगता जग-जीवन।

यह साँझ-उषा का आँगन, आलिङ्गन विरह-मिलन का।
चिर हास-अश्रुमय आनन, रे ! इस मानव जीवन का ॥

विश्वास

सुन्दर विश्वासों से ही, बनता रे ! सुख-मय जीवन;
ज्यों सहज-सहज साँसों से, चलता उर का मृदु स्पन्दन।

हँसने ही में तो है सुख, यदि हँसने को होवे मन;
भाते हैं दुख में आते, मोती-से आँसू के कन !

महिमा के विशद-जलधि में, हैं छोटे-छोटे-से कण;
अणु से विकसित जग-जीवन, लघु अणु का गुरुतम साधन।
जीवन के नियम सरल हैं, पर है चिर-गूढ़ सरलपन;
है सहज मुक्ति का मधु क्षण, पर कठिन मुक्ति का बन्धन।

बरसो

जग के उर्वर आँगन में, बरसो ज्योतिर्मय ! जीवन।
बरसो लघु-लघु तृण, तरु पर, हे चिर अव्यय नित-नूतन !
बरसो कुसुमों में मधु बन, प्राणों में अमर प्रणय-धन;
स्मिति-स्वप्न अधर-पलकों में, उर अंगों में सुख-यौवन ?
छू-छू जग के मृत रज-कण, कर दो तृण-तरु में चेतन;
मृन्मरण बाँध दो जग का, दे प्राणों का आलिंगन !
बरसो सुख बन, सुखमा बन, बरसो जग-जीवन के धन;
दिशि-दिशि में औ पल-पल में, बरसो संसृति के सावन !

याचना

मेरा प्रतिपल सुन्दर हो, प्रतिदिन सुन्दर सुखकर हो;
यह पल-पल का लघु जीवन, सुन्दर, सुखकर, शुचितर हो !
हों बूँदें अस्थिर, लघुतर, सागर में बूँदें सागर;
यह एक बूँद जीवन का, मोती-सा सरस, सुघर हो !
मधु के ही कुसुम मनोहर, कुसुमों की ही मधु प्रियतर;
यह एक मुकुल मानस का, प्रमुदित, मोदित, मधुमय हो !
मेरा प्रतिपल निर्भय हो, निःसंशय, मङ्गल हो,
यह नव-नव पल का जीवन, प्रतिपल तन्मय, तन्मय हो !

('गुञ्जन' से)

मुसकान

कहेंगे क्या मुझसे सब लोग कभी आता है इसका ध्यान !
रोकने पर भी तो सखि हाय ! नहीं रुकती है यह मुसकान

विपिन में पावस के-से दीप सुकोमल सहसा सौ सौ भाव
सजग हो उठते नित उर बीच, नहीं रख सकती तनिक दुराव !

कल्पना के ये शिशु नादान हँसा देते हैं मुझे निदान !
तारकों से पलकों पर कूद नींद हर लेते नव नव भाव

कभी बन हिमजल की लघु बूँद बढ़ाते मुझसे चिर अपनाव ;
गुदगुदाते ये तन, मन, प्राण, नहीं रुकती तब यह मुसकान !

कभी उड़ते पत्तों के साथ, मुझे मिलते मेरे सुकुमार ।
बढ़ाकर लहरों से निज हाथ, बुलाते फिर मुझको उस पार ।
नहीं रखती मैं जग का ज्ञान, और हँस पड़ती हूँ अनजान ।
रोकने पर भी तो सखि ! हाय ! नहीं रुकती तब यह मुसकान !

रामकुमार वर्मा

वर्मा जी का जन्म विक्रम संवत् १९६२ में मध्यप्रदेश के सागर ज़िले में हुआ। आपके पिता का नाम श्री लक्ष्मीप्रसाद था। कविता का प्रेम आपको बचपन से ही है।

आपकी कविता में वेदना की झलक है, साथ ही कविता में कल्पना से अधिक अनुभूति प्रतीत होती है। आपकी कविता प्रायः अस्पष्ट होती है।

आजकल आप इलाहाबाद विश्वविद्यालय में हिन्दी के अध्यापक हैं। 'निशीथ' 'रूपराशि' 'अञ्जलि' आदि आपकी कई पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं।

ओ समीर, प्रातःसमीर !

मेरे पल्लव सोते हैं, टूटे न शान्त स्वप्नों का तार।
या तो धीरे से आओ, या रहो दूर, देखो उस पार॥
सरल सुमन-शिशुओं ने तेरी, आहट से दीं आँखें खोल।
यह सौन्दर्य-सुधा छलकाकर, घटा दिया क्यों उसका मोल ?
ओ समीर, निष्ठुर समीर !

कलियों को मत छुओ, बालिकाएँ है, सरला हैं अनजान।
गाना मत उनके समीप, उन्मत्त अरे ! यौवन के गान॥
असम तुम्हारा है प्रवाह, ध्वनि-पद से करते व्योम-विहार।
या तो धीरे से आओ, या रहो दूर देखो उस पार॥
ओ समीर, मादक समीर !

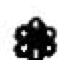
किसका शिशुपन चुरा-चुराकर, भरते हो ओसों में आज ?
किसकी लाली छीन—कर रहे उषा-प्रेयसी का यह साज ?
अरे ! एक झोंके में ही क्यों, उड़ा दिये क्यों तारक-फूल।
मेरे स्वप्नों में क्यों भर दी, मेरे जागृतपन की धूल।
ओ समीर, पागल समीर !

जीर्ण गृह

लिये कितनी स्मृतियों का कोष, भिखारी-सा जर्जर तन-भार।
खड़े हो ओ मेरे गृह ! आज, किसे करने को भूला प्यार ?
सुलाये कितने वर्ष अतीत, गोद में खड़े हुए दिन-रात।
बुलाये वातायन से नित्य, झाँकने वाले बाल-प्रभात॥
रात की काली चादर ओढ़, निकलते थे तारे चुपचाप।
देखते थे वे चारों ओर, भयानक अन्धकार सा पाप॥
देखते थे तुम भी उस काल, हृदय में कर सुस्नेह प्रकाश।
दीप्तिमय छिद्र-नेत्रों से अचल, उन्हीं नक्षत्रों का प्रकाश॥

तुम्हारे लघु छिद्रों के नैन, जानता था कब मैं उस काल
प्रकाशित होंगे कभी न हाय, उठेंगे जब ये तारे वाल ॥
एक छाया ही का आतङ्क, बढ़ेगा तुम पर ऐसा आह।
निकल जावेगा तुम पर मूक, रात्रि-दिन का अविराम प्रवाह ॥
आह ! वे स्मृतियाँ कितनी उग्र, कहाँ है, कहाँ कहाँ किस ओर !
यहाँ कैसा था रजनी काल, और कैसा तम था उफ़, घोर !
और मेरी माँ का संसार, मिल रहा था जब पल प्रतिपल ॥
नेत्र की उज्ज्वलता में सिमिट, गया था अन्धकार अविचल।
आँख की पुतली पल में कभी, भूल जाती थी अपनी चाल।
देखते थे उसको चुपचाप, प्यार के पाले भोले बाल ॥
शुष्क ओठों का अविदित बोल, चुरा ले गई पापिनी वायु।
ओस की बूँदों-सी उड़ चली, फूल से तन में बैठी आयु ॥
आँख धीरे-धीरे थी खुली, दृष्टि निर्बल पहुँची सब ओर।
और पुतली ने धीरे छुआ, बुझी आँखों का सूखा शोर ॥
उसी क्षण उज्ज्वल दीप-प्रकाश, हो गया पल-पल अधिक मलीन।
अन्त में सन्ध्या-सा बन कहीं, यही तो दो दिन का संसार ॥
यही तो दो दिन का संसार, खिलाता है कितने ही फूल।
और दो दिन के भूखे भ्रमर, भूलते हैं अपना भूल ॥
तुम्हारा सुन्दर उपवन और, तुम्हारा सुन्दर रूप विशाल।
आज है देख रहा संसार, तुम्हें रोगी का नत कंकाल ॥
वायु आकर छू जाता शीघ्र, देखते हो तुम उसका व्यंग।
कभी सौरभ भारों से थका, सदा लिपटा रहता था अंग ॥
बने हो अब अतीत के बिन्दु, बने हो अवनी का निरुपाय।
बने स्थिर, सकरुण स्वप्राकार, लिये अपना अविदित अभिप्राय ॥
न गिरना, मत गिरना, अय सुनो, सुरक्षित रखना अपना द्वार।
कभी आऊँगा फिर इस ओर, आँख में भर आँसू दो चार ॥

('अञ्जलि' से)

शान्ति के दिन जाते हैं बीत, न जाते लगती कुछ भी देर।
दिनों के हो जाते हैं फेर, लीन होते विस्मृति में गीत ॥
हरे पल्लव हो जाते पीत, उषः का हो जाता है अंत।
मञ्जु मुख में आते हैं दन्त, शान्त मन हो जाता भयभीत ॥
जरावस्था की भीष्म हिलोर, बहा देती है यौवन-रङ्ग।
रुचिर रङ्ग वाले विविध विहङ्ग, भागते शीघ्र शून्य की ओर ॥
ग्रीष्म का भीषण प्रखर प्रताप, जलाता सौरभवान वसन्त।
सुछवि का हो जाता है अंत, पुण्य हट आ जाता है पाप ॥
यही जग मकड़ी-जाल स्वरूप, खिंचे नीरस विषयों के तार।
शीघ्र ले चक्र-व्यूह आकार, रजत किरणों का रखते रूप ॥
अरे ! यह क्षण-भंगुर संसार, पलटता है पट विविध प्रकार।
वृद्ध में परिवर्त्तित सुकुमार, शीघ्र कर, रचता वस्तु असार ॥
शीघ्र सित काले काले केश, प्रेम में आ जाती है ग्लानि।
प्रणय की हो जाती है हानि, शीघ्र शिशु रखता जर्जर वेश ॥
अटल नियमानुसार, सुख-काल शीघ्र हो जाता दुखमय।
सुधा हो जाती विषमय लताएँ हो जाती हैं व्याल ॥

('चित्तौड़ की चिता' से)

निराशा

इस क्षणिक रंग में राग कहाँ ?
सुमनों की सीमित परिधि-रेख में सौरभ का अनुराग कहाँ ?
वह तो करता है नभ-विहार, बन्धन है जग में सदा भार।
पृथ्वी के लघु सुख-धन में मेरे जीवन का त्याग कहाँ ?
यह रूप-गन्ध का आकर्षण मन विचलित करता है क्षण-क्षण,
पर कहाँ सुमन-सा हृदय और इस आकर्षण की आग कहाँ !
इस क्षणिक रंग में राग कहाँ ?

एक प्रश्न

घटा घुमड़कर आई।
घोर घनी घहरी घिरकर भी पूरी बरस न पाई!
नभ की रंगभूमि पर उसने विद्युत में नर्तन कर;
हँसकर मुक्तावलि की माला बूँद बूँद बरसाई!
उसे ज्ञात हो गया किन्तु, मिथ्या है नभ में रहना;
इस पृथ्वी पर गिरकर उसने मेरी सी गति पाई।
शान्ति नहीं है इस बन्धन में किसी भाँति रहकर भी;
आज घटा ने रो-रोकर यह दारुण कथा सुनाई।
प्रभो! अश्रु क्यों दिये आँख को क्यों करुणा इस मन को;
सुलझाने के बदले तुमने मेरी गति उलझाई।

रहस्य

जीवन ही करुण कथा है।
शब्दों में सुन्दरता है, अर्थों में भरी व्यथा है।
फूलों की मत्त सुरभि-सी जो फूलों से हट जावे;
जिसकी केवल स्मृति रहकर मन में चुभती रहती है।
दृग के कोमल कोने में करुणा धारा बहती है।
केवल अभिनय ही तो है, जीवन है छोटा अभिनय;
तस्कर-सा जिसमें विचलित साहस के पीछे है भय।
यह जीवन समय भवन में टूटा सा टेढ़ा जाला;
जो रेशम सा दिखता है, पर जीर्ण अन्त में काला।

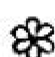
अनुभूति

आज देख ली अपनी भूल।

सुन्दरता के चयन हेतु
तोड़े मुरझाने वाले फूल।

जिस जीवन में हूँ मैं अथ से,
निकला रहा साँसों के पथ से;
रात्रि-दिवस की श्याम-श्वेत गति,
समझ रहा हूँ मैं अनुकूल!

समय हँसा, सुख उसको जाना,
यह जग तो था एक बहाना;
ये ग्रह, ये नक्षत्र कुछ नहीं,
नभ में हँसती है कुछ धूल!
आज देख ली अपनी भूल।

ठाकुर गोपालशरणसिंह

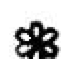
ठाकुर जी का जन्म पौष शुक्ल प्रतिपदा संवत् १९४८ को हुआ था। आप रीवाँ राज्य के गण्यमान्य भूमिपतियों में से हैं। आपकी प्रजा आपसे सन्तुष्ट है।

हिन्दी से आपका बड़ा स्नेह है। कविता का भी प्रेम आपको बचपन से ही है। आधुनिक कवियों में आप उच्च स्थान रखते हैं। आपकी कविता सरल, सरस और भावमय होती है। आप उदार प्रकृति के सज्जन हैं।

संवत् १९८२ में वृन्दावन में हुए अखिल भारतीय कवि-सम्मेलन के आप सभापति भी रह चुके हैं। आपकी कविताओं का संग्रह 'माधवी' नाम से प्रकाशित हो चुका है।

उच्छ्वास

हम जीवित हैं पर नाथ! हमें, इस जीवन में कुछ सार नहीं।
उठता जगदीश! न शीश कभी, हिलना तक है दुख-भार नहीं॥
अपने दिन ये किस भाँति कटें, अब आपस में कुछ प्यार नहीं।
हम रोक रहे फिर भी दृग से, रुकती अब है जल-धार नहीं॥
निज पूर्व-दशा हम भूल गये, हमको अपना अब ज्ञान नहीं।
सब गौरव खोकर बैठ रहे, निज उन्नति का कुछ ध्यान नहीं॥
भगवान! भला, हम जायँ कहाँ, जग में जब है निज मान नहीं।
हमको अपना अभिमान नहीं, हम में अब है कुछ आन नहीं॥
बल-वैभव का किस भाँति प्रभो! इस भाँति समूल विनाश हुआ?
कुछ जान नहीं पड़ता हमको, अब क्या वह दिव्य प्रकाश हुआ॥
अपना कुछ भी न रहा अपना, सपना वह पूर्व-विकास हुआ।
इतना अपना अब ह्रास हुआ, जगती-तल में उपहास हुआ॥
वह स्वच्छ उदार विचार कहाँ, वह है गुण-ग्राम ललाम कहाँ?
वह नीति तथा वह रीति कहाँ, वह प्रीति महामुद-धाम कहाँ?
वह शील तथा वह शौर्य कहाँ, वह सज्जनता अभिराम कहाँ?
अब है वह ज्ञान प्रकाम कहाँ, जग में अपना वह नाम कहाँ?
हममें अब पौरुष नेक नहीं, ममता न रही अपने जन में।
तन में बल का अब नाम नहीं, दृढ़ता कुछ भी न रही मन में॥
हम हैं इस भाँति अबोध हुए, फँसते अति क्षुद्र प्रलोभन में।
तुमको प्रभु! क्या यह ज्ञात नहीं, हम दीन फँसे किस बन्धन में॥
हम डूब रहे दुख-सागर में, अब बाँह प्रभो! धरिए धरिए।
अखिलेश! विशेष कहें हम क्या, बस शीघ्र कृपा करिए करिए!!
यह भारत गारत हो न कहीं, धन-धान्य यहाँ भरिए भरिए!!
बस हो अब नेक विलम्ब नहीं, यह दीन दशा हरिए हरिए!!

गली में पड़ा हुआ रत्न

यदपि गली में अभी रत्न तू पड़ा यहाँ है,
और अनेकों कष्ट आज सह हाय! रहा है।
तुझे कुचलते हुए मनुज जाते हैं सारे,
देता तुझ पर ध्यान नहीं है कोई प्यारे!

पर इससे तेरी हीनता होती कुछ भी है नहीं।
जो अपमानित करते तुझे बुद्धिहीन वे ही सही॥

यदपि रत्न! तू यहाँ धूलि में सना हुआ है,
कङ्कड़ ही के तुल्य तुच्छ तू बना हुआ है।
तुझको आदर लोग नेक भी नहीं दिखाते,
तुझ पर से ही तुच्छ जीव कुछ आते जाते॥

पर अपनावेगा जौहरी तुझको मित्र! अवश्य ही।
जो हो गुणज्ञ, गुणवान का आदर करता है वही॥

अभी पड़ा रह रत्न! यहाँ तू धीरज धारे,
राजमुकुट पर एक रोज बैठेगा प्यारे!
अथवा तेरा हार बना करके कल्याणी,
पहनेगी अत्यन्त चाव से नृप की रानी॥

जो तुझे न अब पहचानते उनके दृग खुल जायँगे।
वे हाथ मींज कर दुःख से फिर पीछे पछतायँगे॥

मत हो मन में खिन्न शीघ्र वह दिन आवेगा,
जब तू अपना रत्न! उचित आसन पावेगा।
तेरा जौहर प्रकट रत्न! जब हो जावेगा,
तब तेरे हित कौन न निज कर फैलावेगा?

है बार-बार आता यही मेरे विचार में।
दुख सहने पर ही उच्च पद मिलता है संसार में॥

चाह

जितने मनोरथ थे उनको बहा दिया,
कितना प्रबल दृग-जल का प्रवाह है।
इतने दिनों के बाद मुझे यह ज्ञात हुआ,
रहा दृगों में छिपा सागर अथाह है॥
छटपट प्राण हैं मचाते रहते सदैव,
बढ़ गया ऐसा मेरा यह उर-दाह है।
इस दुख में जो मुझे अब भी जिला है रही,
वह तुझे एक बार देखने की चाह है॥

उन्माद

जब नहीं आकर किया तुमने हृदय में वास,
हो अधीर स्वयं चला तब वह तुम्हारे पास।
पर न तुमको पा सका की यद्पि बहुत तलाश,
लौट आया अन्त में होकर अतीव निराश॥१॥
दृष्टि-गोचर हो न तुम कहते सभी मतिमान,
सत्य हम भी क्यों न फिर यह बात लेते मान।
लोचनों को मूँदकर करने लगे हम ध्यान,
हाय! तो भी कुछ हमें न हुआ तुम्हारा ज्ञान॥२॥
चित्त देकर और सुन लो एक दिन की बात,
सो रहे थे हम पड़े, बीती हुई थी रात।
सामने तुम ही खड़े, ऐसा हुआ कुछ ज्ञात,
किन्तु जब आँखें खुलीं तब हुआ वज्र-निपात॥३॥
खिल-खिलाकर हम कभी हँसते बहुत साह्लाद,
और रोते हैं कभी पाकर अतीव विषाद।
प्रेमवश करते तुम्हारा हम सदा गुणवाद,
लोग क्यों कहते भला हमको हुआ उन्माद॥४॥

हो निराश हृदय हुआ है अब अतीव अधीर,
किन्तु सूखा जा रहा है क्यों सदैव शरीर?
लोचनों को क्या व्यथा है जो बहाते नीर,
क्या इन्हें भी लग गया है प्रेम का वह तीर? ॥५॥
सोच लो, कब से बने हैं हम तुम्हारे दास,
क्यों हमें तुम कर रहे फिर-बार बार निराश।
बस, तुम्हीं कह दो जहाँ पर है तुम्हारा वास,
है पहुँचता प्रेम का भी क्या वहाँ न प्रकाश ॥६॥
कर रहे कब से तुम्हारे हम गुणों का गान,
पर तुम्हें भी क्या कभी आया हमारा ध्यान।
दो बता हमको तुम्हारा है जहाँ संस्थान,
किस तरह होती वहाँ है प्रेम की पहचान ॥७॥
कुछ समझते हो परम शास्त्रज्ञ ज्ञान-निधान!
पर नहीं उनको तनिक भी है तुम्हारा ज्ञान।
देखकर यह बन गये हम अज्ञ मूढ़ महान,
हाय! तो भी चित्त में न हुआ तुम्हारा भान ॥८॥
यदपि अब तक है हुई तुमसे नहीं पहचान,
किन्तु तुम सहृदय सरस हो, है यही अनुमान।
अब अधिक जाता सहा न वियोग-दुःख महान,
दे हमें दर्शन, करो अब तो कृतार्थ सुजान! ॥९॥

भारत-नारद-सम्मिलन

बैठकर भारत! अँधेरे में अकेले यहाँ,
अविरल अश्रु-धार क्यों तुम बहाते हो।
किसलिए मित्र! इतना हो शरमाते तुम,
क्यों न सब हाल तुम हमें बतलाते हो?
परम गँभीर धीर वीर तुम थे सदैव,
फिर क्यों अधीर-भाव आज दिखलाते हो।

किस भाँति तुम इस भाँति दीन-हीन हुए,
ऐसे हो मलीन, पहचाने भी न जाते हो ॥
अपने पुराने मित्र नारद को आया देख,
भारत ने आदर दिखाया उठ करके।
कुछ काल यों ही चुप-चाप वह बैठा रहा,
अपने विशाल लोचनों में जल भरके।
कण्ठ भर आया मुख और भी उदास हुआ,
फिर वह बोला कुछ धीरज-सा धरके।
पूछते क्या मित्र! हो हमारा हाल, आज हम
जीते भी मरे हैं और जीवित हैं मरके ॥
हो गया शिथिल है हमारा अङ्ग-अङ्ग हाय,
अब हम जीवित हैं क्लेश ही उठाने को।
निज दुख हमसे सहा है नहीं जाता जब,
रोने लगते हैं हम मन बहलाने को।
कैसे समझावें और कैसे रोक रक्खें उन्हें,
आतुर सदैव रहते हैं प्राण जाने को।
कैसे ममता हो हमें दुखमय जीवन से,
मिलता नहीं है हमें पेट भर खाने को।
कैसे हो हमारे मूढ़ पुत्रों की भलाई भला,
चिन्ता है न उनको स्वदेश की भलाई की।
देश की बड़ाई का न ध्यान रहता है उन्हें,
धुन रहती है बस अपनी बड़ाई की।
अब एक पाई भी मुहाल रहती है उन्हें,
दौलत गमाई बाप-दादों की कमाई की।
घर की लड़ाई का न हाल कुछ पूछो यार!
भाई खोदता है जड़ नित्य निज भाई की ॥
जिनसे सदा ही हम आशा रखते हैं बड़ी,
वे भी अहो! अन्त में निकम्मे हैं निकलते।

जिन पर हमको भरोसा रहता है बड़ा,
वे भी सब काल हमें बार बार छलते।
रखते न आपस में मेल हैं हमारे सुत,
दिन-रात वे हैं एक दूसरे से जलते।
शासक हैं प्यारे शुभ-चिन्तक हमारे किन्तु,
उनके सँभाले भी न हम हैं सँभलते॥
निज प्रिय पुत्र भी न देते हैं हमारा साथ,
कहो, हम जग में भरोसा करें किनका ?
है समाज का न ध्यान देश-दशा का न ज्ञान,
आन है न इनको बुरा है हाल इनका।
कैसे ये हटावेंगे हमारा दुख-भार भला,
उठता न आज इनसे है एक तिनका।
भगवान कैसे भला उनका करेंगे कभी,
भाई के रुधिर से रँगा है हाथ जिनका॥
भोग चुके भारत-निवासी हैं विशेष क्लेश,
तो भी देश का वे कभी ध्यान हैं न धरते।
जन्म इस युग में लिया है किन्तु कुछ लोग,
दसवीं सदी में हैं निवास सदा करते।
पलते हमीं से हैं सदैव पर कुछ लोग,
दम हरदम ही अरेबिया का भरते।
सुत हैं हमारे पर जीते न हमारे लिए,
और न हमारे लिए वे कदापि मरते॥
घर के कलह का तार न कभी टूटता है,
फिर किस भाँति सुख-शान्ति रहे धाम में।
हम क्या बतावें ज़रा जाकर तुम्हीं मुनीश,
देखो, लोग कैसे रहते हैं यहाँ ग्राम में।
कैसे उस देश की भलाई हो जहाँ सदैव,
देती दिखलाई है ढिलाई सब काम में।

होते हैं अनेक नित्य हिन्दू-धर्म में अधर्म,
है यहाँ न सच्चा धर्म-भाव पर-धर्म में ॥
देखकर हिन्दुओं की विविध कुरीतियों को,
जान तुम सकते हमारी दशा आज की।
दुधमुँहे बच्चों का विवाह यहाँ होता नित्य,
हालत बुरी है इस पतित समाज की।
बाल-विधवाओं का न हाल कुछ पूछो मित्र!
वह है हमारे लिए बात बड़ी लाज की।
अपने सगे भी हैं अछूत कहलाने लगे,
आई है विनाश-घड़ी जाति के जहाज़ की ॥
शोचनीय हालत हमारी पुत्रियों की सदा,
उर में हमारे और शोक उपजाती है।
जनती नहीं है अब जननी सपूत यहाँ,
गृह में कभी न गृह-देवी मान पाती है।
जाल में फँसी मलीन मीन के समान दीन,
नारियों को देख आँख भर भर आती है।
यदि अबलाओं की सुधरती नहीं है दशा,
लाज ही समाज की हमारे अब जाती है ॥
क्या क्या बतलावें हम देख लो तुम्हीं मुनीश!
काल ने हमारा हाल कैसा कर डाला है।
देखकर हीनता अभागी निज सन्तति की,
जलती हमारे उर में कराल ज्वाला है।
क्या करें किसी प्रकार मिटता कसाला नहीं,
कर दिया शोक ने हमारा गात काला है।
ऐसी घनघोर घटा छाई है विपत्तियों की,
दीखता मुझे न किसी ओर भी उजाला है ॥

❀ ❀ ❀

ग्राम

प्रकृति-सुन्दरी की गोदी में , खेल रहा तू शिशु-सा कौन ?
कोलाहलमय जग को हरदम , चकित देखता है तू मौन ॥
जग के भोलेपन का प्रतिनिधि , सहज सरलता का आख्यान ।
विमल स्रोत मानव-जीवन का , तू है विधि का करुण-विधान ॥

छिपा मही के मृदु अञ्चल में , जग का मूर्तिमान अनुराग ।
तुझसे ही सीखता जगत है , औरों के हित करना त्याग ॥
भोली ललनाओं से लालित , विश्व-पुष्प का पुण्य पराग ।
कृषकों के श्रम-जल से सिंचित , जग का छोटा-सा है बाग ॥

लघु होकर भी तू विशाल है , है छू गया न तुझे गरूर ।
जग-सर पङ्कज है पर तू , मलिन पङ्क से रहता दूर ॥
भव्य-भाव-भण्डार अलौकिक , सत्यशीलता का आगार ।
पारावार प्रेम का तू है , दुःख-दीनता का आधार ॥

होकर भी असभ्य तू ही है , विश्व-सभ्यता का आधार ।
स्वावलम्ब की समुचित शिक्षा , पाता तुझसे है संसार ॥
होता है अंकुरित सर्वदा , खेतों में ही तेरा ज्ञान ।
भू-शय्या पर तू करता है , शीतल सोम-सुधा का पान ॥

सरल बालकों का क्रीड़ास्थल , जगती के कृषकों का प्राण ।
करता है इस विपुल विश्व का , तू ही सदा क्षुधा से त्राण ॥
ईश्वर से डरता है हरदम , होकर भी तू सच्चा शूर ।
दीन-हीन है तो भी रहता , है तू लोभ-क्षोभ से दूर ॥

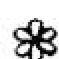
मानवता का प्रेम-निकेतन , आदि सभ्यता का इतिहास ।
भ्रातृ-भाव-समता-क्षमता का , तू है अवनी में अधिवास ॥
छिपा व्योम में लघु तारा , तू है अपने ही में लीन ।
लोल-लोल लहरों से लोलित , विश्व-वारानिधि का है मीन ॥

भोली चितवन से तू जग को , सदा देखता है अविकार।
सब के लिए खुला रहता है , सन्तत तेरे उर का द्वार॥
दया, क्षमा, ममता आदिक हैं , तेरे रत्नों के भाण्डार।
हैं निर्मल जल शुद्ध वायु ही , तेरे जीवन के उपहार॥

छल से रहता दूर किन्तु तू , बल-पौरुष में है भरपूर।
तेरे जीवन-धन हैं जग में , बस किसान एवं मज़दूर॥
कोयल तुझे सुना जाती है , मधुमय ऋतुपति का सन्देश।
खेतों में पौधे उग-उगकर, , देते हैं तुझको उपदेश॥

जग को जगमग करने वाला , है तुझमें न प्रकाश महान।
पर मिट्टी के ही दीपक से , रहता है तू ज्योतिष्मान॥
सह सकता है कभी नहीं तू , बाह्य जगत की तीव्र बयार।
तुझे प्राण-सम प्रिय है हरदम , निज भोला-भाला संसार॥

काँटे चुभते ही रहते हैं , उड़ती रहती तुझ पर धूल।
तो भी तू न मलिन होता है , विश्व-वाटिका का मृदु फूल॥
रखकर सब से निपट निराला , जगतीतल में निज व्यक्तित्व।
करता है तू सफल सर्वदा , अपना छोटा-सा अस्तित्व॥

सुभद्राकुमारी चौहान

सुभद्राकुमारी चौहान का जन्म संवत् १९६१ में श्रावण शुक्ल पञ्चमी के दिन ठाकुर रामनाथसिंह के यहाँ प्रयाग में हुआ। स्थानीय क्रास्थवेट गर्ल्स स्कूल में आपने शिक्षा प्राप्त की।

आपका विवाह खंडवा के ठा० लक्ष्मणसिंह जी बी०ए० एल० एल० बी० के साथ हुआ। आजकल आप जबलपुर में रहती हैं, और देश-सेवा में प्रमुख भाग ले रही हैं।

हिन्दी-साहित्य में स्त्री-कवियों में आपका स्थान सब से ऊँचा है। आपकी भाषा सीधी-सादी होती है। भाव सुन्दर हैं।

आपकी कविताओं का संग्रह 'मुकुल' नाम से प्रकाशित हो चुका है।

स्वागत

आ जा आ प्यारे स्वदेश ! आ स्वागत करती हूँ तेरा।
तुझे देख फिर आज हो रहा दूना प्रमुदित मन मेरा ।।
आ उस बालक के समान जो है गुरुता का अधिकारी।
आ उस युवक वीर सा जिसको विपदाएँ ही हैं प्यारी ।।
आ उस सेवक के समान तू विनयशील अनुगामी सा।
अथवा आ तू युद्ध-क्षेत्र में कीर्ति-ध्वजा का स्वामी सा ।।
आशा की सूखी लतिका में तुझको पा फिर लहराई।
अत्याचारी की कृतियों को तू ने निर्भय दरशाई ।।

जलियाँवाला बाग़ में वसन्त

यहाँ कोकिल नहीं काक हैं शोर मचाते।
काले काले कीट भ्रमर का भ्रम उपजाते ।।
कलियाँ भी अधखिली, मिली हैं कंटक-कुल से।
वे पौधे, वे पुष्प, शुष्क हैं अथवा झुलसे ।।
परिमल-हीन पराग दाग सा बना पड़ा है।
हा ! यह प्यारा बाग़ खून से सना पड़ा है ।।
आओ प्रिय ऋतुराज ! किन्तु धीरे से आना।
यह है शोक-स्थान, यहाँ मत शोर मचाना ।।
वायु चले; पर मन्द चाल से उसे चलाना।
दुख की आहें संग उड़ाकर मत ले जाना ।।
कोकिल गावे किन्तु राग रोने का गावे।
भ्रमर करे गुंजार कष्ट की कथा सुनावे ।।
लाना सँग में पुष्प, न हों वे अधिक सजीले।
हो सुगंध भी मन्द ओस से कुछ कुछ गीले ।।
किन्तु न तुम उपहार-भाव आकर दरसाना।
स्मृति में पूजा-हेतु यहाँ थोड़े बिखराना ।।

कोमल बालक मरे यहाँ गोली खा-खाकर।
कलियाँ उनके लिए गिराना थोड़ी लाकर॥
आशाओं से भरे हृदय भी छिन्न हुए हैं।
अपने प्रिय परिवार देश से भिन्न हुए हैं॥
कुछ कलियाँ अधखिली यहाँ इसलिए चढ़ाना।
करके उनकी याद ओस के अश्रु बहाना॥
तड़प-तड़पकर वृद्ध मरे हैं गोली खाकर।
शुष्क पुष्प कुछ वहाँ गिरा देना तुम जाकर॥
यह सब करना किन्तु बहुत धीरे से आना।
यह है शोक-स्थान, यहाँ मत शोर मचाना॥

झाँसी की रानी

सिंहासन हिल उठे राज-वंशों ने भृकुटि तानी थी,
बूढ़े भारत में आई फिर से नई जवानी थी।
गुमी हुई आज़ादी की कीमत सब ने पहचानी थी,
दूर फिरंगी के करने की सब ने मन में ठानी थी।
चमक उठी सन् सत्तावन में वह तलवार पुरानी थी,
बुन्देले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी॥
कानपूर के नाना की मुँहबोली बहिन छबीली थी,
लक्ष्मीबाई नाम पिता की वह सन्तान अकेली थी।
नाना के सँग पढ़ती थी, वह नाना के सँग खेली थी,
बरछी ढाल कृपाण कटारी उसकी यही सहेली थी।
वीर शिवाजी की गाथाएँ उसको याद ज़बानी थीं,
बुन्देले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी॥
लक्ष्मी थी या दुर्गा थी वह स्वयं वीरता की अवतार,
देख मराठे पुलकित होते उसकी तलवारों के वार।

नकली युद्ध, व्यूह की रचना और खेलना खूब शिकार,
सैन्य घेरना दुर्ग तोड़ना ये थे उसके प्रिय खिलवार।
महाराष्ट्र कुलदेवी उसकी भी आराध्य भवानी थी,
बुन्देले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी॥

हुई वीरता की, वैभव के साथ सगाई झाँसी में,
ब्याह हुआ रानी बन आई लक्ष्मीबाई झाँसी में।
राजमहल में बजी बधाई खुशियाँ छाई झाँसी में,
सुभट बुन्देलों की विरुदावलि-सी वह आई झाँसी में।
चित्रा ने अर्जुन को पाया, शिव से मिली भवानी थी,
बुन्देले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी॥

उदित हुआ सौभाग्य मुदित महलों में उजियाली छाई,
किन्तु कालगति चुपके चुपके काली घटा घेर लाई।
तीर चलाने वाले कर में उसे चूड़ियाँ कब भाईं।
रानी विधवा हुई हाय! विधि को भी दया नहीं आई।
निःसन्तान मरे राजाजी, रानी शोक समानी थी,
बुन्देले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी॥

बुझा दीप झाँसी का तब डलहौजी मन में हरषाया,
राज्य हड़प करने का, उसने यह अवसर अच्छा पाया।
फौरन फौजें भेज दुर्ग पर अपना झण्डा फहराया,
लावारिस का वारिस बनकर ब्रिटिशराज्य झाँसी आया।
अश्रुपूर्ण रानी ने देखा, झाँसी हुई बिरानी थी,
बुन्देले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी॥

अनुपम विनय न हा ! सुनता है, विकट शासकों की माया,
व्यापारी बन गया चाहता था यह जब भारत आया।
डलहौज़ी ने पैर पसारे, अब तो पलट गई काया,
राजाओं नव्वाबों को भी उसने पैरों ठुकराया।
रानी दासी बनी, बनी यह दासी अब महारानी थी,
बुन्देले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी॥
छिनी राजधानी देहली की, लखनऊ छीना बातों-बात,
क़ैद पेशवा था विठूर में, हुआ नागपुर पर भी घात।
उदैपुर तंजौर सितारा करनाटक भी कौन बिसात,
जब कि सिंध पञ्जाब ब्रह्म पर अभी हुआ था वज्रनिपात।
बंगाले मद्रास आदि की भी तो वही कहानी थी,
बुन्देले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी॥
रानीं रोईं रनवासों में, बेगम ग़म से थीं बेज़ार,
उनके गहने कपड़े बिकते थे कलकत्ते के बाज़ार।
सरे आम नीलाम छापते थे अंग्रेज़ों के अखबार,
नागपूर के ज़ेवर ले लो, लखनऊ के लो नौलखहार।
थी परद्दे की इज्ज़त परदेशी के हाथ बिकानी थी,
बुन्देले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी॥
कुटियों में थी विषम वेदना, महलों में आहत अपमान।
वीर सैनिकों के मन में था अपने पुरखों का अभिमान।
नाना धुन्दूपंत पेशवा जला रहा था सब सामान,
बहिन छबीली ने रणचंडी का कर दिया प्रकट आह्वान।
हुआ यज्ञ प्रारम्भ, उन्हें तो सोई ज्योति जगानी थी,
बुन्देले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी॥

पँ खु रि याँ

मूरख को पोथी दई, बाँचन को गुन-गाथ।
जैसे निर्मल आरसी, दई अन्ध के हाथ ॥१॥

अति ही सरल न हूजिए, देखो ज्यों वनराय।
सीधे सीधे छेदिए, बांके तरु बच जाय ॥२॥

अग्नि-तुंग सहना सुगम, सुगम खडग की धार।
नेह निभावन एक रस, महाकठिन करतार ॥३॥

अति छवि से सीता हरण, हत रावण अति गर्व।
अति हि दान ते बलि बँधे, अति तजिए भल सर्व ॥४॥

आसन मारे क्या हुआ, मरी न मन की आस।
तेली केरा बैल ज्यों, घर ही कोस पचास ॥५॥

आव गई आदर गया, नयनन गया सनेहि।
ये तीनों तबही गये, जबहि कहा कछु देहि ॥६॥

अपनी पहुँच विचारके, करतब करिए दौर।
तेते पाँव पसारिए, जेती लाँबी सौर ॥७॥

आप न काहू काम के, डार पात फल मूर।
औरन को रोकत फिरे, 'रहिमन' कूर बबूर ॥८॥

अपनी भाषा है भली, अनुपम अपनो देश।
जो कुछ अपनो है भलो, यही राष्ट्र संदेश ॥९॥

एते मित्र न कीजिए, अति लखपति अरु बाल।
ज्वारी चोरी तस्करी, अमिर और बेहाल ॥१०॥

कज्जल तजे न श्यामता, मोती तजे न श्वेत।
दुर्जन तजे न कुटिलता, सज्जन तजे न हेत ॥११॥

काव्य-शास्त्र आनन्द में, बुधजन के दिन जात।
कलह और निन्दा विषे, मूरख समय बितात ॥१२॥

'कबिरा' गर्व न कीजिए, रंक न हसिए कोय।
अभी नाव समुद्र में, क्या जाने क्या होय ॥१३॥

क्यों कीजे ऐसो जतन, जाते काज न होय।
परवत पर खोदे कुआँ, कैसे निकसे तोय ॥१४॥

कुछ कहि नीच न छेड़िए, भलो न ताको संग।
पाथर डारै कीच में, उछरि बिगारै अंग ॥१५॥

गोधन, गजधन बाजिधन, अरु रतनन की खान।
जब आवे संतोष धन, सब धन धूल समान ॥१६॥

चार वेद, षटशास्त्र में, बात मिले हैं दोय।
दुख दीने दुख होत है, सुख दीने सुख होय ॥१७॥

जो विषया संतन तजी, मूढ़ ताहि लिपटात।
ज्यों नर डारत वमन कर, स्वान स्वाद सों खात ॥१८॥

जाहि संग दूषण लगे, तजिए ताको साथ।
मदिरा मानत है जगत, दूध कलाली हाथ ॥१९॥

जो तोंको काँटा बुवे, ताहि बोय तू फूल।
तोंको फूल के फूल हैं, वाको हैं तिरशूल ॥२०॥

तन ढके न मच्छर उड़े, रहे न कुल की लाज।
स्वान पूँछ औ कृपण धन, कौन काम भुवि राज ॥२१॥

'तुलसी' मीठे वचन से, सुख उपजत चहुँ ओर।
वशीकरण इक मन्त्र है, परिहरु वचन कठोर ॥२२॥

तरुवर फल नहिं खात हैं, सरवर पिये न पानि।
कह 'रहीम' परकाज हित, संपति करे सुजानि ॥२३॥

ते माता पितु शत्रु सम, सुत न पढ़ावें जौन।
राजहंस मधि बक सरिस, सभा न सोभित तौन ॥२४॥

दुर्जन दर्पण सम सदा, करि देखो हिय दौर।
सन्मुख की गति और है, विमुख भये कछु और ।।२५।।

दुष्ट न छोड़े दुष्टता, कैसे हूँ सुख देत।
धोये हूँ सौ बेर के, काजर होत न सेत ।।२६।।

द्रव्यहीन सब को लखै, दीनहिं लखै न कोय।
जो 'रहीम' दीनहिं लखै, दीनबन्धु सम होय ।।२७।।

दोषहिं को उमहे गहै, गुन न गहै खल लोक।
पिये रुधिर पय न पिये, लागि पयोधर जोक ।।२८।।

धनि 'रहीम' जल पंक को, लघु जिय पियत अघाय।
उदधि बड़ाई कौन है, जगत पियासो जाय ।।२६।।

नारायण या जगत में, हैं दो वस्तू सार।
सब से मीठो बोलिबो, करिबो पर उपकार ।।३०।।

निशि-दीपक शशि जानिए, दिन-दीपक रवि जान।
तीन भुवन दीपक धरम, कुल-दीपक सुत मान ।।३१।।

नीच निचाई नहि तजे, जो पावै सत्संग।
'तुलसी' चन्दन विटप बसि, विष नहि तजत भुजंग ।।३२।।

प्यारो अनप्यारो लगे, समय पाय सब बात।
धूप सुहावत शीत में, ग्रीषम मन न सुहात ।।३३।।

पाहन पूजे हरि मिलैं, तौ मैं पूजु पहार।
तातें यह चाकी भली, पीस खाय संसार ।।३४।।

पानी आवे नाव में, घर में आवे द्रव्य।
दोनों हाथ उलीचिये, कहत गुणी जन सर्व ।।३५।।

फूटी आँख विवेक की, लखै न संत असंत।
जाके सँग दस-बीस हैं, ताको नाम महंत ।।३६।।

बुरे लगत सिख के वचन , हिये विचारो आप।
कड़वी भेषज बिन पिये , मिटे न तन की ताप ॥३७॥

मन मोती अरु दूध रस , याको यही स्वभाव।
फाट्यो पीछे ना मिले , कोटि करो उपाव ॥३८॥

मान होत है गुनन तें , गुन बिन मान न होय।
शुक सारिक राखै सब , काग ना राखै कोय ॥३९॥

राम न जाते हिरण सँग , सिया न रावण सँग।
जो 'रहीम' भवितव्यता , होती अपने हाथ ॥४०॥

'रहिमन' देखि बड़ेन को , लघु न दीजिए डारि।
जहाँ काम आवे सुई , कहा करै तरवारि ॥४१॥

'रहिमन' सूधी चाल सों , प्यादा होत वज़ीर।
फ़रजी मीर न हो सके , टेढ़े की तासीर ॥४२॥

विद्या बल धन रूप यश , कुल सुत वनिता मान।
सभी सुलभ संसार में , दुर्लभ आतमज्ञान ॥४३॥

सुख के माथे शिल पड़े , नाम हृदय से जाय।
बलिहारी वा दुःख की , जो पल पल नाम जपाय ॥४४॥

आडंबर तजि कीजिए , गुण-संग्रह चित चाहि।
दूध-रहित गउ नहिं बिके , आनी घण्ट बजाहि ॥४५॥

आव नहीं, आदर नहीं , नहिं नैनन में नेह।
ता घर कबहुँ न जाइए , कंचन बरसत मेह ॥४६॥

अपनी प्रभुता को सबै , बोलत झूठ बनाय।
वेश्या बरस घटावती , जोगी बरस बढ़ाय ॥४७॥

उत्तम जन की होड़ कर , नीच न होत रसाल।
कौवा कैसे चलि सकै , राजहंस की चाल ॥४८॥

उदय समै रवि रक्त है, अस्त रक्त दिखन्त।
सज्जन संपति विपति में, एक हि रूप दिखन्त ॥४६॥

ओछी संगत स्वान की, दोनों बातें दुक्ख।
रूठो पकड़े पाँव को, तूठो चाटे मुक्ख ॥५०॥

सङ्गठन

राष्ट्रोन्नति का मन्त्र, तन्त्र है सौख्य-वृद्धि का,
जाति-देश का भाग्य, कोष है सिद्धि-ऋद्धि का।
कविता में माधुर्य, प्रेम है तू प्रेमी का,
भक्तों में तू भक्ति, ईश है तू निज जन का॥
विश्व-नियन्त्रण-हेतु — महा अवतार शक्ति का,
सुहृदों में सौहार्द, सत्त्व तू सुन्दर शुचि का।
वैरि - विमर्दन - हेतु— कठिनतर रूप उसी का,
गुणियों में गुण बड़ा, ओज है भारत भू का॥
विमल शारदीचन्द्र, राजनीति-रजनी का,
उत्तम भव्य प्रभात, भारती विधु-वदनी का।
वपुधारी है रुद्र, शूल तू मूल शोक का,
स्वाभिमान का बन्धु, सुमन आशावलोक का॥
प्रकृति मध्य परमाणु, जगत् है रूप उसी का,
उषा में लालिमा, तेज भी है तू रवि का।
स्वार्थ-रहित का मित्र, शत्रु है स्वार्थ - सहित का,
करुणा का तू भवन, सवन तू सुन्दरता का।
राज्यक्रान्ति का सार, प्राण सब नेतागण का,
असहयोग-आधार —, सूत्र जीवन-नौका का।
परब्रह्म का रूप, विश्व-निर्माण-शलाका,
है संसार स्वरूप, 'सङ्गठन' शक्ति का॥

(श्रीकन्हैयालाल तिवारी)

वीर-यात्रा

कुहू निशा सम प्रलयंकारी अञ्जन बरस रहा था।
घुमक रही थी घोर घटा, घनःगर्जन शोर महा था॥
वारिदमाला बीच कभी यों चपला चमक रही थी।
भग्नहृदय में मानों श्वसिता आशा दीख रही थी॥१॥

हृदयहीन नभ बीच बीच में अश्रु गिरा देता था।
रजनी का यों विरहित जीवन हृदय हिला देता था॥
आँधी का अन्धेर बढ़ा था अपना बल परखाने।
मानों भूखा व्याघ्र सत्त्व का आया गला दबाने॥२॥

महाशक्ति का अद्भुत ताण्डव आज प्रलय कर देगा।
जड़ जंगम को नष्ट भ्रष्टकर जग-जीवन हर लेगा॥
आशा दीपक साथ लिये फिर भी इक वीर निराला।
बीहड़ पथ से विचर रहा था बनता विपत-निवाला॥३॥

प्राण भले ही जायँ, साध मैं अपनी पूर्ण करूँगा।
काल यदि सम्मुख हो मेरे टारे नाहिं टरूँगा॥
यह पैंज थी यही आन थी यह ही एक सहारा।
यह वीरव्रत प्रकृति पिशाची को मानों हुआ दुधारा॥४॥

पर प्रणवीर प्रणय सिञ्चित से जीवन के उस मग में।
जहाँ विघ्न बाधाएँ लाखों रोक रहीं पग पग में॥
अदम्य उत्साहपूर्ण वीर वह आगे था पग धरता।
जिसके यौवन-वैभव से था मादक-रस-कन झरता॥५॥

पता नहीं था प्रकृति-परीक्षण यम की विकट हँसी थी।
आशुतोष का भैरव ताण्डव क्षणिकता जहाँ धँसी थी॥
वीर हृदय को देख विघ्न सब शान्त हुआ क्षण भर में।
प्रकृति नटी ने नूतन जीवन फूका अचर-सचर में॥६॥

नील गगन में तारों से मिल निशानाथ आ चमके।
जीवन के इस पथ में फिर से आशा-दीपक दमके॥
हुई 'सुमन' वृष्टि थी नभ से देव गीत गाते थे।
वीर-यात्रा देख वीर की मुग्ध हुए जाते थे॥७॥

(बलवन्तसिंह 'सुमन')

आँसू !!

नाहक तुमने उकसा दीं, अलसाई सुप्त व्यथाएँ।
पलकों पर छलक पड़ी हैं, कितनी ही करुण कथाएँ॥
चिर-पीड़ित जीवन-साथी, मेरी वेदना-कहानी।
बह जाय न आँखो में हो, बनकर वह खारा पानी !!
दिल बरस न जाए मेरा, बनकर यों आँसू के कन !
वेदना कहाँ पाएगी, मेरा-सा सूना आँगन ?
अञ्चल में लिये हुए हूँ— माना कितना उत्पीडन।
प्याले भर गये लबालब, कर रही वेदना कम्पन !!
सब कुछ है मुझे अखरता, पर नहीं चाहती रोना।
उसके चित्रों की रेखा, कैसे चाहूँगी धोना ?
क्यों निकले हो पलकों से, आँसू ! क्यों सूख न जाओ ?
चिर-पीडित से जीवन की, मत सञ्चित साध मिटाओ !!
बहकर न हृदय से आना, आँखों से मत गिर जाना !
पीड़ा न कहीं धुल जाए— नाहक मत मुझे मिटाना !!

(जयनाथ 'नलिन')

उषा

गगन-नन्दन की कली, मैं चू पड़ी, शेफालिका हूँ।
मुग्ध-तरणी मैं चली, पीछे हमारा रजनि-कुन्तल,
चकित, सस्मित नयन, अलि-गुञ्जन चरण-मञ्जीर चञ्चल,
स्वप्न-अलका यक्षिणी मैं प्रेम की चिर-पालिका हूँ।

मैं अमर अभिसारिका, नव-रवि-प्रदीप लिये अचञ्चल,
खोजता युग से तमिस्रा में प्रणय की मूर्ति निर्मल,
प्रिय-चरण पाया न, आली! स्वप्न-पागल बालिका हूँ।

गन्धवह चिर गन्ध आकुल साँस से सुरभित हमारी,
किरण-अंगुलि-स्पर्श पाकर सिहर उठती सृष्टि सारी,
जागरण की रागिनी हूँ, एक भूली तारिका हूँ।

मैं पुजारिन नित्य आती विश्व में दीपक जलाने,
तोड़ने उडु-सुमन, सुन्दर, विहग-स्वर में गीत गाने,
देव-पूजन में गये दिन मैं अनन्त-कुमारिका हूँ।

हो गई है श्याम रजनी प्रिय-चरण पर दीप धरकर,
मैं किसे पूजूँ?—कहाँ वह देवता है सत्य सुन्दर?
कुसुम-सर की मुग्ध-दुहिता सृष्टि की संचालिका हूँ।

मैं चली हूँ प्रेम-पथ पर कब रुकूँगी, कौन जाने?
रिक्त-उर, एकाकिनी, कंटक बने हैं आज जाने—
गीत की काया हमारी आँसुओं की मालिका हूँ।
नियति-वञ्चित प्राण मेरे मैं चिरन्तन बालिका हूँ।

(हरेन्द्रदेव नारायण)

आलाप

कहाँ रहा वह कोप? गिरे गगनचुम्बी महल।
अब तो कर सन्तोष, आग न कुटिया में लगा ॥१॥

यही लँगुटिया शेष, यही हमारी संगिनी।
नग्न हमारा वेष, इसे छीनकर मत बना ॥२॥

रूखी रोटी एक से होता निर्वाह है।
निन्दनीय है टेक, उस पर भी विष छिड़कना ॥३॥

लठिया ही आधार, रही पंगु के हाथ में।
उसका जीवन भार, बना न उसको तोड़कर ॥४॥

किया हृदय में घाव, घाव पका फोड़ा हुआ।
छोड़ा नहीं कुभाव, दुखा न फोड़ा निर्दयी ॥५॥

झड़ जावेंगे पात, अभी रहे जो लहलहा।
प्रात-साँझ सी बात, परिवर्तनमय है समय ॥६॥

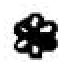
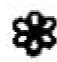
होता अत्याचार, किन्तु हमारा क्या गया?
हमको हर्ष अपार, जिसके थे उसमें मिले ॥७॥

तेरा है व्यापार, धूल झोंकना मारना।
धन्य हमारा प्यार, होते हैं बलिदान जो ॥८॥

डाली से जो फूल, गिर पड़ता है भूमि पर।
उस पर चढ़ती धूल, उसे न कोई सूँघता ॥९॥

अन्तरिक्ष को द्वेष, होगा इसे विलोक कर।
जब होगा यह देश, अरुणोदय की लालिमा ॥१०॥

(राजाराम खरे)

बाबू मैथिलीशरण गुप्त

गुप्त जी चिरगाँव ज़िला झाँसी के रहने वाले हैं। आपका जन्म वि० सं० १९४३ में हुआ। साहित्य-क्षेत्र में गुप्त जी का स्थान बहुत उच्च है। आपने खड़ी बोली को अपनाकर जहाँ एक ओर साहित्य में प्रगतिशीलता पैदा की, वहाँ साधारण 'पुरानी धारा' से सर्वथा अपरिचित हिन्दी साहित्य से विमुख जनता का भी महान् उपकार किया है।

आप केवल अमीरों के ही राजमहलों में विचरण करने वाले नहीं हैं, देहात की झोपड़ियों में भी आपका प्रवेश है। आपकी कविता आबाल-वृद्ध सभी के लिए एक जैसी है। कविता सीधी सादी किन्तु शिक्षाप्रद और प्रभावोत्पादक होती है। आपकी कृतियों में से 'भारत भारती' और 'जयद्रथवध' तो इतने विख्यात हुए हैं कि प्रायः गाँवों में अपढ़ पुरुष भी उनके छन्दों को दोहराते पाये जाते हैं।

आपकी कविताओं में राष्ट्र-भावना के भाव निहित होते हैं। देशभक्ति के हृदय में कूट-कूटकर भरी है। आपके मौलिक और अनुवाद किये हुए ग्रन्थों की संख्या २५ के लगभग है।

मातृ-भूमि

नीलाम्बर परिधान, हरित पट पर सुन्दर है,
सूर्य-चन्द्र युग मुकुट, मेखला रतनाकर है।
नदियाँ प्रेम-प्रवाह, फूल तारे मण्डन हैं,
बन्दी विविध विहंग, शेषफन सिंहासन हैं॥
करते अभिषेक पयोद हैं, बलिहारी इस वेष की!
हे मातृ-भूमि! तू सत्य ही, सगुण मूर्ति सर्वेश की।

मृतक-समान अशक्त विवश आँखों को मीचे।
गिरता हुआ विलोक गर्भ से हमको नीचे।
करके जिसने कृपा हमें अवलम्ब दिया था,
लेकर अपने अतुल अंक में त्राण किया था!
ओ जननी का भी सर्वदा, थी पालन करती रही।
तू क्यों न हमारी पूज्य हो, मातृ-भूमि! मातामही।

जिसकी रज में लोट-लोटकर बड़े हुए हैं,
घुटनों के बल सरक-सरककर खड़े हुए हैं।
परमहंस सम बाल्य काल में सब सुख पाये,
जिसके कारण 'धूल भरे हीरे' कहलाये।
हम खेले कूदे हर्षयुत, जिसकी प्यारी गोद में।
हे मातृ-भूमि! तुझको निरख, मग्न क्यों न हों मोद में?

जिन मित्रों का मिलन मलिनता को है खोता,
जिस प्रेमी का प्रेम हमें मुददायक होता।
जिन स्वजनों को देख हृदय हर्षित हो जाता,
नहीं टूटता कभी जन्म भर जिनसे नाता॥
उन सब में तेरा सदा, व्याप्त हो रहा तत्त्व है।
हे मातृ-भूमि! तेरे सदृश, किसका महा महत्त्व है?

निर्मल तेरा नीर अमृत के सम उत्तम है,
शीतल मन्द सुगन्ध पवन हर लेता श्रम है।
षट् ऋतुओं का विविध दृश्ययुत अद्भुत क्रम है,
हरियाली का फर्श नहीं मखमल से कम है।
शुचि सुधा सींचता रात में, तुझ पर चन्द्र प्रकाश है।
हे मातृ-भूमि ! दिन में तरणि करता तम का नाश है॥

सुरभित सुन्दर सुखद सुमन तुझ पर खिलते हैं,
भाँति भाँति के सरस सुधोपम फल मिलते हैं।
ओषधियाँ हैं प्राप्त एक से एक निराली,
खानें शोभित कहीं धातुवर-रत्नों वाली,
आवश्यक जो होते हमें, मिलते सभी पदार्थ हैं।
हे मातृ-भूमि ! 'वसुधा' 'धरा', तेरे नाम यथार्थ हैं॥

दीख रही है कहीं दूर तक शैल-श्रेणी,
कहीं घनावलि बनी हुई है तेरी वेणी;
नदियाँ पैर पखार रही हैं बनकर चेरी,
फूलों से तरुराजि कर रही पूजा तेरी;
मृदु मलय-वायु मानो तुझे, चन्दन चारु चढ़ा रही।
हे मातृ-भूमि ! किसका न तू, सात्त्विक-भाव बढ़ा रही॥

क्षमामयी, तू दयामयी है, क्षेममयी है,
सुधामयी, वात्सल्यमयी, तू प्रेममयी है।
विभवशालिनी, विश्वपालिनी दुख-हर्त्री है,
भय-निवारिणी, शान्ति-कारिणी सुखकर्त्री है।
हे शरणदायिनी देवि ! तू, करती सब का त्राण है।
हे मातृ-भूमि ! सन्तान हम, तू जननी, तू प्राण है॥

जिस पृथिवी में मिले हमारे पूर्वज प्यारे,
उससे हे भगवान् ! कभी हम रहें न न्यारे।

लोट-लोटकर वहीं हृदय को शान्त करेंगे,
उसमें मिलते समय मृत्यु से नहीं डरेंगे।
उस मातृ-भूमि की धूल में, जब पूरे सज जायँगे।
होकर भव-बन्धन-मुक्त हम, आत्म-रूप बन जायँगे॥

शरणागत

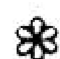
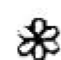
अब तो अवलम्बन तेरा है
होकर भी अस्तित्व नहीं-सा आज कहीं भी मेरा है।

जो प्रकाश था, बुझा अचानक झंझा के झोकों से।
खड़े रह गये हैं, सब साथी चित्रित-से चौंके-से॥

यह विस्तीर्ण विश्व अब मानो—एक संकुचित घेरा है।
चारों ओर अँधेरा है, अब तो अवलम्बन तेरा है।

नहीं प्रकाशमात्र ने हमको छाया तक ने छोड़ा।
जाग हमारे हृदय-देव, अब जब सबने मुँह मोड़ा॥

सभी डेरों में घिरा आज यह, बीच डगर में डेरा है।
अब भी दूर सवेरा है, अब तो अवलम्बन तेरा है।

शब्दार्थ

पृष्ठ

१० कलह-लड़ाई
लरि-लड़कर
जवन-सैन-यूनानियों की सेना
नासी-नष्ट की
पंगु-लँगड़ा
ख्वारी-दुर्दशा
टिक्कस-लगान

११ यासु-इसके
तीय-स्त्री
याही ते-इसी से
बिगरैल-बिगड़ने वाली
गैल-मार्ग
रखैल-रखेली

१२ चबाव-निन्दा
हरखत-प्रसन्न होना
सैल-सैर (भ्रमण)
पखौआ-मोरमुकुट
टेंटिन-टीट (क्षुद्र फल विशेष)
सिवा-शिवा, गीदड़ी
ठहर-स्थान
चेतौ-होशियार हो जाओ
थिर-मज़बूत (पक्का)
रच्छहि-रक्षा करो
सोहति-शोभा देती है

पृष्ठ

१२ पोहति-पिरोती है

१३ सोपान-सीढ़ी (पौड़ी)
मज्जन-स्नान
द्रवित-पिघलना
सुधारस-अमृत
भवखण्डन-संसार को नष्ट करने वाले (मोक्ष देकर)
हिम-नग-हिमालय
कल-सुन्दर
सगर-सुवन-सगर के पुत्र
उधारन-उद्धार करने वाली
ललकि-प्रसन्न होकर
अंकम-गोद में
जोहत-देखने से
धवल-सफेद
सुच्छ-साफ़

१४ प्रबोधौ-समझाओ
पतियावै-विश्वास करे
इनारुन-फल विशेष
अलक-बाल
हलकत-हिलना
पियरो-पीला
तम-अँधेरा
अनुसरिहै-करेंगे (पीछे चलना)

१५ छुधित–भूखे
परिकर कसि–फैंटा बाँधकर
समरमँझारि–युद्ध में
चय–समूह
हिंसन–मारना
पदतल–पैर के नीचे
प्रतच्छ–प्रत्यक्ष
उपेच्छै–उपेक्षा करे, लापरवाही
संगर–युद्ध
चारन–भाट
बन्दी–भाट
हींसहिं–हिनहिनावें
चिक्करहिं–चिंघाड़े
समर थर–युद्धभूमि में
छय–नाश
१७ प्रवुद्ध–होशियार (जागना)
आरत–आर्त, दुःखित
प्रमुदित–प्रसन्न
ताका–देखा
दिवाकर–सूर्य
प्राची–पूर्व
कलाप–समूह
प्रतीची–पश्चिम
करुणावरुणालय–दया का सागर
१८ श्रौत स्मार्त–वेद और स्मृतियों से बताया हुआ
अलका–कुबेर की नगरी
१८ खिसानी–चिढ़ गई
उयो–पैदा हुआ
पेंडति–मस्त रहती है
अघानी–तृप्त हुई
खोटानी–कम होना (कम हुई)
अतिसै–अतिशय (अधिक)
२० दिवाना–पागल
धूनत–भटकना
२१ कालचोर–कालरूप चोर
औसर–अवसर (समय मौका)
मींजि–मलकर
कंचन–स्वर्ण
बिरछन–वृक्षों (की)
२२ त्रुटि–कमी
प्रतिच्छ–प्रत्यक्ष
२४ ठेल–गिराना
निरख–देख
घोष–शब्द
निगुरापन–गुरु वाला न होने का दोष
अखिलानन्द–परमात्मा
२५ संघात–समूह
जीवनमुक्त–जीवन-मरण से अलग
अपरा–परमात्मा को प्राप्त कराने वाली विद्या
निष्णात–चतुर

२५ लंठगढ़–मूर्खता का किला
प्रतारक–ठग
२६ कर्मकलाप–कर्मों का समूह
ज्ञानागार–ज्ञान का भंडार
धवल–सफेद
मेधा–बुद्धि
ध्रुव–अटल
पातकपुंज–पापों का समूह
पजार–जलाना
अतिवाद–बहस
ऊत–मूर्ख
२७ पिशुन–चुगलखोर
प्रतियोगी–शत्रु
निगमागम–वेदशास्त्र
अनघ–पापरहित
अदम्य–न दबने योग्य
२८ अभिनय–नये
भूमियान–रेल
जलयान–जहाज़
विमान–हवाई जहाज
चंचुप्रवेश–चोंच का प्रवेश
(भाग लेना)
२९ सविता–सूर्य
छदन–पत्ते
तीत–तेजी
३० दमकाय–चमत्कार
धाराधर–बादल
गुल्म–झाड़ी

३० पुंज–समूह
विहंग–पत्ती
झिलारे–उबल गये
उगे–पैदा हुए
३१ हायन–वर्ष
दैवज्ञ–ज्योतिषी
अग्रहायन–आगामी वर्ष
तुषार–कोहरा
अम्बा–आम
धौरे–सफेद
इन–सूर्य
३२ जीवन-पोत–जीवन नैया
कपोती–कबूतरी
मादा–स्त्री (कबूतरी)
३३ सय्याद–शिकारी
दुलही–स्त्री
मरणासन्न–मरने वाला
वनिता–स्त्री
आखेटी–शिकारी
आमिष–मांस
पारावत–कबूतर
अभ्यागत–अतिथि
ऋजुपन्थ–सीधा रास्ता
३४ क्षमता–सहनशीलता
सुकृति–अच्छे कर्म करने
वाले
कुलबोर–कुल डुबाना
मटके–प्रसन्न हो

३६ अहिमुण्ड–साँप का फन
किधौं–क्या
पलटति–बदलती
पुरन्दर–इन्द्र

३७ वन्दनीय–नमस्कार के योग्य
पधारि–आकर
बिरहा–गाना (रागविशेष)
ढिलाय–ढीला करके
सुघराई–सुन्दरता
निवेश–स्थान

३८ बटोर–इकट्ठा करना
अवनि–पृथ्वी
ऊसम–ऊष्मा, गर्मी

३९ अम्बुद–बादल
अस-बीती–ऐसे ही बीत गया
मुदाम–आनन्द के स्थान
पुरवहु–पूरे करो
बकतीय–बगलों की स्त्रियाँ
पोखर–तालाब
गैल–रास्ता

४२ मथित–मथन किये हुए
कलित–सुन्दर
ललित–मनोहर
कालिन्दीकूल–यमुना किनारे
निचय–समूह
पूत–पवित्र
अपूत–अपवित्र
कृपाकोर–दयादृष्टि

४३ छितितल–पृथ्वी
शस्यश्यामला–धानों से हरी भरी
अगतिगति–अशरणशरण
द्वि-घटी–दो घड़ी
मेदिनी–पृथ्वी
लसी–शोभा पा रही
तमोमय–अंधकारमय
गेह–घर
निधान–खजाना
प्रदीप–दीपक
सदन–घर

४४ विरुदावली–प्रशंसा
समवेत–एकत्र
चयन–चुनना
रसवती–रस वाली
रसना–जिह्वा
आलपित–कही जा रही
विपुल–अधिक
कलनाद–मधुर ध्वनि
जनैक–एक आदमी
अवधारित–निश्चित

४५ वामा–स्त्रियाँ
शोकाभिभूता–दुःखी
यामिनी–रात

४६ कुंजातिरम्या–सुन्दर लतागृह
द्रुम–वृक्ष
अंकों–गोदियों

४६ पुष्पभारावनम्रा–फूलों के भार से झुकी
एकदा–एक बार
सरि–सरित्, नदी
कतिपय–कुछ
उदक–जल
पुलिन–किनारा
४७ कृशित–दुर्बल
दव–अग्नि
निर्द्धूता–कम
पर्जन्य–बादल
४८ सिक्ता–सींची हुई
आर्त–दुःखी
उन्नायक–नेता
वन्दनाख्या–वन्दना नाम वाली
मारुत–वायु
४९ कुमक–सहायता
कुमकुम–अबीर और गुलाल भरकर लाख से बना हुआ गोला
पैंठ–आकड़
तमोमयी–अंधेरी
तमीचर–राक्षस (रात्रि में घूमने वाले)
असित–काली
ककुभ–दिशा
भैरव–भयंकर
५० प्रभाकर–सूर्य
प्रभामय–कान्तिमान्
उकठा काठ–पत्तों आदि रहित वृक्ष
५३ गुन-जाल-गुण-समूह
अनुमात्र–कुछ भी (तनिक भी)
ज्याय–जिवाकर
भुवाल–राजा
द्रुम–वृक्ष
५४ वृच्छ–वृक्ष
चन्द्रहास–तलवार
दादुर–मेंढक
केकी–मोर
अमल–अधिकार
५५ वितान–चँदोबा
५६ सम्पत्करी–धन देने वाली
सर्व व्यथा-हरी–सब दुःखों को दूर करने वाली
तेजःकरी–तेज देने वाली
भूरि–यशःकरी–बहुत यश देने वाली
लोकेश्वरी–लोक की मालिक
देवगणेश्वरी–देवों की मालिक
अन्नेश्वरी–अन्न देने वाली
प्राणधनेश्वरी–प्राण और धन की मालिक
ओक–स्थान
साकेत–अयोध्या

५६ रविमालिका–सूर्य की किरण
जन-पालिका–मनुष्यों का पालन करने वाली
जल-वालिका–जल से पैदा हुई (समुद्र मथन के समय)
शंकरी–कल्याण करने वाली
वीथी–गली
हरेरी–हरयाली
आदित्यवर्णी–सूर्य के समान
वंदौ–नमस्कार करता हूँ

५८ सुधासने अमृतभरे
नभोऽङ्क–आकाश का गोद
निशेश–चन्द्र
अवसान–अन्त
समग्र–सम्पूर्ण
तमोनिहन्ता–अंधकार को नाश करने वाला (सूर्य)

५९ मधुव्रतावली–भौंरों की पंक्ति
द्विरेफ–भौंरा
सुखाप्ति–सुख की प्राप्ति

६० विधेय–कर्तव्य
दृगाब्ज–नेत्रकमल
विनिद्र–निद्रारहित
दिनेश–सूर्य

६१ वृषपति–महादेव
रुष–क्रोध
हर-कोदण्ड–महादेव का धनुष

६१ कड़क कूड़कर–धमकाकर
अज्ञ–मूर्ख
विपक्षी–शत्रु
पच–नष्ट

६२ समासीन–बैठ
निदेश–आज्ञा
सुखद–सुख देने वाली

६३ दस्यु–डाकू
साकेतरेणु–अयोध्या की धूलि
नवनीत–मक्खन
पदावलि–पदपंक्तियाँ
तदपि–तौ भी

६४ वामता–प्रतिकूलता
महिमता–बड़प्पन
अवलोक–देख
अनिश–सदा
नियति–भाग्य
परिष्कृत–शुद्ध
गुणान्वित–गुणों से युक्त
सिकता–रेत
कुत्सित–बुरा
कवल–ग्रास
सरसीव–सरसी के सदृश
अमरत्वदा–अमर पद देने वाली
चतुरानन–ब्रह्मा

६७ कृश–दुर्बल

६७ जगप्रपंच–माया
अकर्मण्यता–कायरपन
सदन–घर
६८ पर-पद-दलित–दूसरों के पैरों से कुचले हुए (पराधीन)
पर-मुखापेक्षी–दूसरों का मुँह ताकने वाले
पराजित–हारे हुए
निरभ्र–बादलों से रहित
विराव–शब्द
विलसित–शोभायमान
विशद–स्वच्छ
निशीथ–आधी रात
वातायन–खिड़की
धवलता–स्वच्छता
ऊर्मि–तरङ्ग
वीचि–तरङ्ग
मरीचि–किरण
वसन–वस्त्र
जलधि–सागर
६९ पदध्वनि–पैर की आवाज़
प्रतीक्षक–बाट देखने वाला (इन्तज़ार करने वाला)
द्रुत–जल्दी
मेखला–तड़ागी (तगड़ी)
अजिन-कौपीन–मृगछाला की लँगोटी

६९ सत्तम–श्रेष्ठ
भस्मावृत–राख से ढकी
निर्धूम–धुएँ से रहित
श्मश्रु–दाढ़ी
द्योतक–प्रकट करने वाला
चिकुर–बाल
प्रफुल्लित–प्रसन्न
नीरव–शब्दरहित
निस्तब्ध–शान्त
हिमकर–चन्द्रमा
सिक्त–सींचा
आतुर–जल्दी
आकुल–दुःखी
सद्म–घर
तुङ्ग–ऊँची
७० सैकत–रेतीला
उदर–पेट
दरी–गुफ़ा
७१ मही–पृथ्वी
लवलेश–तनिक
सतत–सदा
दारुण–भयंकर
७२ पटुता–चतुरता
छवौ–छः के छः
नारिकेल–नारियल (खोपा)
शठ–दुष्ट
इंगित–इशारा
सचिव–मन्त्री

७२ अंशुमाली-सूर्य

७३ आभा-प्रकाश

क्षितिज-जहाँ पृथ्वी और आकाश मिलते जान पड़ते हैं

७४ मधुमय-सुन्दर

खण्ड-टुकड़ा

संग्रह-समूह

चपला-बिजली

मंजु-सुन्दर

मरकत-मणिविशेष

प्रतिवासर-प्रतिदिन

अति-क्रम-उल्लङ्घन

अगणित-असंख्य

आकर्षक-खींचने वाला

अभिनेता-अभिनय करने वाला

७६ धराधिप-राजा

भूरि-अधिक

लहि-पाकर

खर-गदहा

जगतीतल-जगत्, संसार

सुठाँव-उचित स्थान

कुठाँव-बुरा स्थान

हाथा-पाँव-झगड़ा

जनि-मत

बिज्जुलता-बिजली

७७ रावरे-आपके

कनकी-चावल के टुकड़े

धन्धा-काम

दुआ-प्रार्थना

उत-वहाँ

७८ पत्यौरुस-फसल (वर्ष) का

धुन-ध्वनि, शब्द

चेरो-चेला

खेरो-धार

हेरो-देखो

चाव सों-प्रेम से

नहैहैं-स्नान करेंगे

७९ बिलगैहैं-पृथक् करेंगे

मिलिन्द-भ्रमर

सनके-विचलित हो

खेड़े-गाँव

ध्येय-लक्ष्य

अभेद्य-न टूटने योग्य

अजेय-न जीता जाने योग्य

८० अनी-नोक

जनित-पैदा हुई

८१ कलेवर-शरीर

दुकूल-दुपट्टा

प्रशस्त-प्रसिद्ध

शून्य-कुछ भी नहीं (आकाश)

८२ गुड़ी-पड़ी (नष्ट हुई)

पापमन्दर-पाप का घर

८२ चूर–नष्ट
क्षार–राख
तृषित–प्यासे
अकड़ा–दबाने का प्रयत्न किया (अभिमान में आना)
पन्थ–रास्ता

८३ काठिन्य–कठिनता
विपद्प्रवाह–दुखों का झुण्ड
साध–सिद्ध कर

८५ जोते–चलाते
जराजीर्ण–वृद्धावस्था से शिथिल
दूर्वा–घास
प्रतिमा–मूर्ति
कढ्यो–निकला
प्रखर–तेज
कर–किरण
पुरजनन–शहर के लोगों का
उल्लास–आनन्द

८६ जर्जर–अतिदुर्बल
चीथरे–फटे कपड़े
त्वचा–खाल
पल–मास
नई–झुक गई
उछाह–उत्साह
कंकाल–हड्डीमात्र (अति दुर्बल)

८६ टेकिबे–टेकने के लिए
पसुरिन–पसलियों
संकेत–इशारा

८७ नतगात–झुके शरीर वाला
हृदय-हर्षक–हृदय को प्रसन्न करने वाले
कर्षक–खींचने वाले
प्रदीप–दिया (चिराग)
जन्य–पैदा हुए
कल–सुन्दर
कलोल–खेल
मुग्धक–मोहने वाला
लुब्धक–लुभाने वाला

८८ अम्बुध–समुद्र
अनुरक्ति–प्रेम
गण्य–गिनने योग्य
कलित–सुन्दर
कुञ्चित–घुँघराले
पर्जन्य–बादल
कौतुक–आश्चर्य
अवसन्य–अन्त
मनोज–काम
सौजन्य–सुजनता
लौकिकता–सांसारिकता
कलक–दुःख (दुःखी होना)
उपमन्य–समता के योग्य

८९ दण्ड्य–अपराध (दण्ड देने योग्य)

८९ व्यवस्था–मर्यादा
पाखण्ड–ढोंग

९० नाता–सम्बन्ध
अपावन–अपवित्र
पीय–पति
पयान–यात्रा
दल–पत्ता
भेंटि–मिलकर
गमन-उद्यत–जाने को तय्यार
लखात–दिखाई देता है
सित–सफेद
अनिल–हवा
धरा–पृथ्वी
लुकन–छिपने
गैयन–गायों को
भरमि–भरमाकर
(भ्रम में आकर)

९१ कारिख–स्याही
बाट–रास्ता
पूछनहार–पूछने वाला
कपाट–दरवाज़ा (किवाड़)
विहाय–छोड़कर
भौन–घर
आयसु–आज्ञा
विघातिनी–नाश करने वाली
शिखा–लपट
दीठि–दृष्टि
सुता–पुत्री

९१ सेवति–सेवा कर रही
लसति–शोभा पाती
वारिविहीन–पानी के बिना
आवनहार–आने वाला
तरुणि–स्त्री
उकठि–सूखी
लावई–लावे (फलती है)
वाम–उलटी
पितृनिदेश–पिता की आज्ञा

९२ सतत–हमेशा
जोवति–देखती
निरन्तर–सदा
हेरन–देखने को
मोदप्रदायिनी–आनन्द देने वाली
वदावदी–शर्त (बाजी)
दीठि–दृष्टि
पसारि–फैलाकर
विस्मय–आश्चर्य
खेइ–बीतना
परखि–पहचानकर

९३ ओट–आड़
खरी–खड़ी
कराल–भयंकर
अपरलोक–दूसरा संसार (स्वर्ग)
प्रयाण–गमन, जाना
प्रयास–प्रयत्न

९३ सुवन–पुत्र
बैनन–वचन
मुरि परी–लौटी
पुरावै–पूरी करे
भटकि–भटककर
९५ सघन–घनघोर
विपिन–वन
सुमन–फूल
कतराई–बिखर गई (बिला गई)
निहारते–देखते
उलझते–झगड़ते
९६ ललाम–सुन्दर
भव-सागर–संसार-सागर
मठ–मन्दिर
अक्षर–न नष्ट होने वाला
९७ हूल–दुःख
सुरभिमय–सुगन्धित
शूल–काँटा (दुःख)
जलयान–जहाज
ठाँव–स्थान
९८ पट–कपड़ा
अलिगण–भ्रमरसमूह
नव–नया
ऐक्य–एकता
प्रफुल्लित–प्रसन्न
९९ पाला–सामना
विमल–स्वच्छ

९९ झौंरे–टहनी (डाल)
१०१ ज्योत्स्ना–प्रकाश
भीमाकाश–डरावना आकाश
पावस–वर्षाऋतु
तपक–बिजली की चाल
उद्गार–भाव (विचार)
सोच्छ्वास–उसास के साथ
मिस–बहाना
१०२ वात–हवा
बिथुरा–बिखरा
बोर–डुबोना
विहग–पक्षी
तुमुल–अधिक
खद्योत–जुगनू
श्रमित–थके हुए
पोत–जहाज़
पात–पत्ता
१०३ अविरत–निरन्तर
१०४ उर्वर–उपजाऊ
अव्यय–न नष्ट होने वाला
संसृति–संसार
प्रमुदित–प्रसन्न
मोदित–प्रसन्न करने वाला
१०७ मादक–नशीली
अतीत–बीता समय
दीप्तिमय–प्रकाशमान
१०८ आतङ्क–भय
मूक–चुपचाप

१०८ अविराम–लगातार
अविचल–स्थिर
अविदित–बिना जाने हुए
छोर–किनारा
नत–नम्र
कंकाल–शरीर

१०९ पल्लव–नये पत्ते
जरावस्था–बुढ़ापा
विहंग–पक्षी
सित–श्वेत
प्रणय–प्रेम
व्याल–सर्प
परिधि–सीमा
नभ–आकाश

११० घहरी–गर्जन
विद्युत–बिजली
नर्तन–नाच
दारुण–भयंकर
व्यथा–दुःख
तस्कर–चोर

१११ चयन–चुनना
अथ–आरम्भ

११३ आन–मर्यादा
समूल–जड़ से
ह्रास–कमी
गुण-ग्राम–गुणों का समूह
महामुद–अधिक आनन्द
प्रकाम–यथेष्ट

११३ क्षुद्र–मामूली

११४ मींज–मलकर

११५ उर-दाह–हृदय की जलन
वज्रनिपात–बिजली का गिरना
साह्लाद–आनन्द-सहित

११६ संस्थान–स्थान
शास्त्रज्ञ–शास्त्रों को जानने वाले
अविरल–लगातार

११७ मुहाल–दुष्प्राप्य

११८ कदापि–कभी भी
कलह–लड़ाई
मुनीश–नारद

१२० आख्यान–कथा
अञ्चल–दुपट्टा
श्रम-जल–पसीना
सिंचित–सींचा हुआ
भव्य–मनोहर
आगार–घर
अङ्कुरित–नई पत्तियों से युक्त
शय्या–खाट
क्षमता–सहनशीलता
अधिवास–स्थान

१२१ उपहार–भेंट
उग-उगकर–पैदा होकर
तीव्र–तेज़
बयार–हवा

१२१ अस्तित्व–सत्ता
१२३ परिमल–पराग (पुष्प-धूलि)
१२४ पुलकित–प्रसन्न
१२५ आराध्य–पूज्य
विरुदावलि–प्रशंसा
उदित–उदय (प्रकट)
लावारिस–अनाथ
वारिस–सनाथ
१२६ बिठूर–स्थान का नाम
घात–वार
आहत–दुःखी
पुरखों–पूर्वजों
आह्वान–चुनौती
१२७ गाथ–कहानी
वनराय–वृक्ष
तुंग–शिखा
केरो–का
आब–इज्जत
तस्करी–चोर
अमिर–धनवान
१२८ रंक–गरीब
तोय–पानी
वमन–उलटी (कै)
कलाली–शराब बेचने वाली
मधि–बीच
१२९ उमहे–खुश होकर (उत्साह से)
अघाय–तृप्त होकर
१२९ उदधि–समुद्र
उलीचिए–बाहर फेंकिए
१३० सिख–शिक्षा
ताप–बुखार
भेषज–औषध
भवितव्यता–होनहार
रसाल–रसवाला (सज्जन)
१३१ नियंत्रण–वश करना
विमर्दन–नष्ट करने वाला
ओज–बल
शारदी–शरद ऋतु का
रजनी–रात्रि
वपुधारी–शरीरधारी
सवन–प्रसव (बच्चा)
१३२ कुहू निशा–अमावास्या की रात
श्वसिता–मृतप्राय
बीहड़–भयंकर
निवाला–ग्रास
आशुतोष–महादेव
१३३ शेफालिका–फूलदार वृक्ष
कुन्तल–बाल
१३४ तमिस्रा–रात्रि
दुहिता–पुत्री
एकाकिनी–अकेली
नियति–भाग्य
वञ्चित–ठगी हुई
गगनचुम्बी–ऊँचे

१३४ लँगुटिया–लँगोटी

१३५ पंगु–लँगड़ा

अन्तरिक्ष–आकाश

१३६ नीलाम्बर–नीला

परिधान–वस्त्र (दुपट्टा)

हरित–हरा

पट–वस्त्र

मेखला–तगड़ी (तड़ागी)

रतनाकर–समुद्र

विहंग–पक्षी

पयोद–बादल

१३७ सर्वेश–परमात्मा

त्राण–रक्षा

निरख–देख

मुददायक–आनन्द देने वाला

१३८ तरणि–सूर्य

तम–अँधेरा

शैल-श्रेणी–पर्वतपंक्ति

तरुराज–वृक्ष-पंक्ति

दुख-हर्त्री–दुःख नाश करने वाली

प्रकाशक—
लाला ख़ज़ानचीराम जैन, मैनेजिंग प्रोप्राइटर, मेहरचंद्र लक्ष्मणदास, संस्कृत हिन्दी पुस्तक विक्रेता, सैदमिट्ठा बाज़ार, लाहौर।

मुद्रक—
लाला ख़ज़ानचीराम जै
मैनेजर, मनोहर इलैक्ट्रिक प्रे
सैदमिट्ठा बाज़ार, लाहौर